

त्याग का आदर्श : साध्वीरत्ला धापूकंवरजी म.सा.

संस्कृत सूक्ति भंडार की एक लोकप्रिय सूक्ति है-

महाजनो येन गता स पन्थाः।

अर्थात् महाजन जिस मार्ग पर चले, व्यक्तियों को उसी मार्ग पर चलना चाहिये। इसके अर्थ को ध्यान में लेते हुए बाल गंगाधर तिलक और भण्डारकर में कती चर्चा हुई। भण्डारकर का कहना था कि महाजन जिस पर चले, वही पथ है। तिलकजी ने कहा-जिन महाजनों की बात है यदि वे स्वयं कभी झूठ बोलते हों, चोरी करते हों, अन्य असद् आचार उन्होंने जीवन में किया हो तो फिर वह पथ कैसे आचरणीय हो सकता है? चर्चा के दौरान बात आई कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश को महाजन माना जाता है तो इनमें से किसका पथ स्वीकार किया जाये क्योंकि किसी एक का पथ स्वीकार करने से विसंगतियाँ उत्पन्न होंगी। तिलकजी ने कहा-ब्रह्मपुराण में उल्लेख आता है कि ब्रह्मजी स्वयं एक बार अपनी पुत्री पर मुग्ध हो गए थे फिर उनका यह आचार अन्यों के लिए आचरणीय कैसे हो सकता है? विष्णुपुराण में विष्णु को अनेक लीलाएँ करने वाला बताया गया है, वह आचरण भी सामान्यजनों के लिए अनुकरणीय नहीं है। शिव भी शमशानवासी है उसका अनुकरण भी हर व्यक्ति के लिए शक्य नहीं है। महाजनों का पथ तो ऐसा होना चाहिए जिस पर प्रत्येक प्राणी आसानी से गतिशील हो सके। उन्होंने यह उत्तर अपनी दृष्टि से दिया। युगद्रष्टा, युगद्रष्टा ज्योतिर्धर जवाहराचार्य ने भी इस सूक्ति पर चिंतन किया और उन्होंने कहा महाजन अर्थात् महानजन, और वे हैं वीतराग। वस्तुतः उनका ही

पथ चलने लायक हैं। दूसरे पथ तो उत्पथ होते हैं। उत्पथ अर्थात् ऊबड़-खाबड़, गड्ढे या चढ़ाई वाले पथ, जिन पर आरोहण दुरुह है, पग-पग पर गिरने की संभावना रहती है। ऐसा पथ गंतव्य तक नहीं पहुँचा सकता।

देवताओं और वीतरागों के पथ की बातें अपने स्थानों पर और भक्तों की दृष्टि से सही हैं, परन्तु यह भी ध्यान में रखने की बात है कि उनके द्वारा दिखाये गये पथ अथवा मार्ग आदर्श मार्ग हैं। सीमित मानसिक और आध्यात्मिक क्षमताओं से युक्त सामान्य जन उन्हें इसी रूप में ग्रहण कर उनके अनुसरण का प्रयास करते हैं। वे पूर्णतः उन पर चल पाते हैं या नहीं, यह तो दूसरी बात है। प्रमुख बात है यह देखना कि उनकी उन मार्गों पर चलने की कामना कितनी प्रबल होती है और कितने समर्पित भाव से वे अनुसरण-हेतु प्रवृत्त होते हैं। यदि उनकी प्रवृत्ति पूर्ण समर्पित निष्ठा की बनती है तो समझ लिया जाना चाहिये कि उन्हें मंजिल मिल जायेगी। वे कितनी दूर तक चल पाते हैं, कहाँ तक पहुँच पाते हैं और कितने स्कल होते हैं, ये बातें तब अर्थहीन हो जाती हैं क्योंकि मुख्य बात भावना की होती है और उसकी उत्कटता ही मंजिल तक पहुँचाने में सहायक होती है। वर्तमान काल के संत-सती जन इस दृष्टि से उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं। ऐसे जिन समर्पित जनों ने धर्म प्रभावना के मार्ग को आलोकित किया है उनमें महासंती शा.प्र. साध्वीरता श्री धापूकंवरजी म.सा. का नाम प्रथम पंक्ति में गणनीय है। उन्हीं के समाधिमरण पर श्रद्धासुमन अर्पित करने का प्रसंग आज उपस्थित हुआ है। ‘धापू’ नाम को उन महासंती ने किस प्रकार गौरवान्वित किया एवं उसे नया भाव-बोध प्रदान किया इस पर आज चिन्तन अपेक्षित है।

एक समय था जब किसी परिवार में बेटियाँ ही बेटियाँ जन्म लेती थीं तक परिवारजन पुनः बेटी होने पर उसका नाम धापू रख देते थे, यह ज्ञापित करने के लिये कि हम बेटियों से धाप चुके हैं अर्थात् उनसे तृप्त हो चुके हैं। इस प्रकार यह नाम कन्या के प्रति एक प्रकार से अरुचि का बोधक बन गया था और जब इसी भावना से श्रीमती गंगाबाई ने अपनी नवजात कन्या का नाम ‘धापू’ रखा था तब न उन्हें,

न उनके पति श्री बींजराजजी पटवा को यह ज्ञात था कि वह होनहार कन्या कालान्तर में ‘धापने’ को नया अर्थ दे देगी और परिवार के लिए कीर्ति और सौभाग्य की गंगा बहाकर उसे धपा देगी अर्थात् तृप्त कर देगी और स्वयं के जीवन की भी तृप्ति कर लेगी। उसी धापूबाई ने यौवन में ही संत-संगति से वह कार्य कर दिखाया, जिसे बड़े-बड़े योद्धा भी नहीं कर पाते और पीछे रह जाते हैं।

एक घटना पर दृष्टिपात करें जो राजगृह की है। एक लकड़हारा प्रभु महावीर के चरणों में साधु बन गया। राजकीय एवं प्रशासक वर्ग के अनेक व्यक्ति उसे प्रभु के पास देख कर ईर्ष्याग्रस्त हो गये और किसी रूप में उसका उपहास भी करने लगे-अरे कल तक तो लकड़ियाँ ढोता फिरता था, अब साधु बनकर मौज मनाएगा! खाने-पीने को नहीं मिलता रहा होगा, अब समस्या सुलझ जायेगी!! अभयकुमार ने पास से निकलते हुए इन शब्दों को सुन लिया। उनके मन में विचार आया-अरे, ये पाँच इन्द्रियों के दास, विषयों के गर्त में पड़े हुए व्यक्ति एक साधु का उपहास कर रहे हैं। ये साधु-जीवन का आनंद क्या जानें? पर ऐसा उपहास नहीं करना चाहिये। वे अपने निवास पर पहुँचे, एक स्थान पर रलों की ढेरियाँ लगवा दीं और नगर में एलान करा दिया कि जो व्यक्ति जीवन पर्यन्त के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को स्वीकार करेगा, ये ढेरियाँ उसे मुफ्त में ही प्राप्त हो जायेंगी। लोगों ने सुना, रलों की आकांक्षा भी बनी पर प्रतिज्ञा की शर्त मंजूर नहीं हुई। कल जो उपहास कर रहे थे वे भी पीछे हटने लगे। अभयकुमार ने कहा-कल तक तो आप लोग बहुत बातें बना रहे थे, आज अवसर आया तो पीछे हटने लगे जबकि मात्र प्रतिज्ञा के बदले इतनी राशि मिल रही है। वे भी समझ गये और चरणों में गिर पड़े-हमारी भूल हुई, हमें क्षमा करें। प्रतिज्ञा ले ली तो फिर यह सब-कुछ बेकार है। बाह्य संग्राम में बल प्रदर्शन करने वाले आभ्यंतर संग्राम में पीछे रह जाते हैं। अंतः संग्राम में विजय प्राप्त करने का गुरुतर कार्य महासती श्री धापूकंवरजी ने संपन्न किया। उन्होंने लगभग 55 वर्ष की संयमी आराधना पूर्ण की। कहा गया है-

एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी में पुनि आधा।
तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध॥

थोड़े-से समय में कोटि वर्ष के अपराध कैसे नष्ट हो जाते हैं, यह प्रमाणित किया श्रमणीरत्ना धापूकंवरजी म.सा. ने। हमारे यहाँ भी कहा गया है कि सम्यक्दृष्टि से श्रावक की, श्रावक से संयत की निर्जरा क्रमशः असंख्यात् गुणी अधिक होती है। पर निर्जरा कब होती है जब रूपान्तरण किया जाता है और महासतीजी ने अपने जीवन का रूपान्तरण किया था। विद्यार्थी 12 माह अध्ययन करता है पर परीक्षा-फल के आधार पर ही विचार किया जाता है कि उसने कैसा अध्ययन किया था। मेरिट लिस्ट में यदि नाम आ गया तो माना जायेगा कि लड़के ने अध्ययन अच्छा किया था। साधना के क्षेत्र में भी इसी आधार पर परिणाम निकलेगा कि साधक ने अपना कितना रूपान्तरण किया है। कुछ दिन पूर्व ही मैंने बताया था कि आप काया को विदाई देने में संकल्प-विकल्प में न पड़े क्योंकि काया तो निर्मम भाव से आपको विदाई देने में तनिक भी संकोच नहीं करेगी। महासतीजी ने स्वयं काया को विदाई देकर अच्छे अंकों से उत्तीर्णता प्राप्त की है। उनके हृदय में शरीर के प्रति निर्ममत्व-भाव आ गया था। आप कहेंगे-संत भी क्या अपने शरीर की देखभाल एवं सुरक्षा करते हैं? उत्तर होगा-हाँ, आवश्यक होने पर उपचार लेते हैं। स्वयं गौतमस्वामी बेले-बेले तप करते, पर पारणे के दिन प्रभु चरणों में उपस्थित होकर कहते-भते! आपकी आज्ञा हो तो मैं त्रिक्षार्थ परिभ्रमण करना चाहता हूँ। प्रभु ने कहा-अहासुहं देवाणुप्पिया। प्रभु जानते थे कि वह शरीर भाव का पोषण करने नहीं जा रहे हैं। उसके लिए प्रभु अनुमति नहीं देते। प्रभु की दृष्टि आत्मा पर टिकी हुई थी और आहार भी साधना का साधन है। अतः शरीर को थोड़ा-थोड़ा आहार देकर साधना के मनचाहे रूप निकालते रहना चाहिये। यहीं प्रयास किया महासतीजी ने। यह संभवतः 9 वाँ चातुर्मास उदयपुर में चल रहा था। पहले उनके शरीर में फ्रेक्चर हो गया था और शरीर भारी होने हड्डियाँ जुड़ने में देर लगी थीं। फिर चलने की स्थिति नहीं बनने से एक स्थान पर रहने का प्रसंग बना। लेकिन फिर भी ‘जल कमलवत्’ रहीं। सहवर्ती साधिव्यों में श्री गुलाबकंवरजी म.सा. तथा श्री

शांताकंवरजी म.सा. साथ ही थे। एक महीने के संथारे का प्रसंग तो आगमों में भी उल्लिखित है परन्तु 82 दिन पूर्ण कर 83 वें दिन महासती श्री गुलाबकंवरजी म.सा. का संथारा कुछ ही समय पूर्व सीझा था। उस दृश्य को साक्षात् देखने वाले भी मौजूद हैं।

शा.प्र. महाश्रमणीरत्ना श्री पेपकंवरजी म.सा. भी पधारे और महासती शा.प्र. महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. भी शारीरिक स्थिति को गौणकर पहुँच गये। इनके अतिरिक्त त. तपतेजस्विनी श्री कस्तूरकंवरजी म.सा. आदि-आदि अनेक संत-सती वर्ग पहुँच गये थे। परिणाम स्वरूप लगभग सम्मेलन जैसी स्थिति बन गई थी और संथारे में लकवे की स्थिति भी ठीक हो गई। किसी ने उनसे पूछा-आपको भूख लगी होगी? उन्होंने दूढ़ता से कहा-मेरे सामने ऐसी बातें मत करो। किसी ने गरमी से राहत पहुँचाने के लिए कपड़ा झलना चाहा तो उन्होंने साफ मना कर दिया। ऐसी क्रियाएँ वस्तुतः साधु के लिए वर्जनीय हैं। भीषण गर्मी होने पर भी जिस कमरे में उन्होंने संथारा ग्रहण किया था वहाँ से स्थान-परिवर्तन भी नहीं किया तथा उत्कृष्ट भावों में सतत् आसीन रहे और उन्हें सहयोग देती रही महासती श्री धापूकंवरजी म.सा। जब उन्हें खबर मिली कि निम्बाहेड़ा चातुर्मास खुला है तो उन्होंने अपने पास से श्री सुमनप्रभाजी, श्री श्रद्धाश्रीजी, श्री रौनकश्रीजी-3 सतियों को रवाना भी करवाया, यह नहीं सोचा कि मेरी सेवा में कमी पड़ेगी यद्यपि महासती श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. वहाँ विराज रहे थे फिर भी लोगों को ऐसा लगता है कि उनके साथ वाले जायेंगे तो मुश्किल होगी परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं सोचा। निष्पृहभाव से कह दिया-जाओ, वहाँ भी सतियों की आवश्यकता रहेगी। वे भटेवर तक आये भी लम्बे विहार की स्थिति व समय की अल्पता की बजह से उन्हें लगा, शायद पहुँचना संभव नहीं हो अतः वे लौट गये।

महासती श्री धापूकंवर ने समाधिमरण का मार्ग अपनाया था, इस प्रकार मृत्यु को ललकारा था और मृत्यु-महोत्सव मनाया था। आज व्यक्ति जन्म-महोत्सव मनाता है पर याद रखिये मृत्यु-महोत्सव द्वारा जन्म-परम्परा को तोड़ा जा सकता है, जबकि जन्म-महोत्सव तो उसकी श्रृंखला को और आगे ही बढ़ाता है। कभी-कभी व्यक्ति घबराता है, पर

क्यों? हम जानते हैं कि जीव तो जाने के स्वभाव वाला है तो फिर जन्म और मृत्यु में हर्ष-शोक क्यों? पुराने समय से ही शोक-सभा का आयोजन होता रहा है। मैंने एक बार इंदौर में कहा था—यह शोक सभा नहीं है। मैं इस खेद या शोक को नहीं मानता। मुझे तो संतोष है। आप कहेंगे कि मैं यह क्या कह रहा हूँ? सोचिये, हममें से किसी ने भी तो जीते रहने का पट्टा नहीं लिखाया है। जब हम जानते हैं कि मृत्यु आयेगी तब हम स्वयं ही यदि तिलक देकर रवाना कर रहे हैं तो इससे बड़ा संतोष और क्या हो सकता है? यह प्रसन्नता नहीं है, संतोष है। इसी कारण तो हमने नग्नभाव और मुंडभाव को स्वीकार किया है। आप पूछेंगे कि जब नग्नभाव स्वीकार किया है तो साधु वस्त्र क्यों पहनते हैं? प्रभुजी नग्न भाव में रहते थे और हम तो महान् जनों का अनुकरण करने वाले हैं। लेकिन हम जरा गहराई से सोचें कि प्रभु ने किस रूप में नग्नता स्वीकार की थी? कपड़े से नहीं, भावों से। भावों की नग्नता का अर्थ है जैसे ऊपर के कपड़े आवरण-रूप हैं वैसे ही भावों का आवरण आत्मा पर नहीं होने पाये। कथनी व करनी में ऐक्य बने, तदनुरूप व्यवहार ढले। यही नहीं कि ‘मुंह में राम बगल में छुरी।’ तो सफलता नहीं मिलेगी।

राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी वैसा ही फल देय॥
राम नाम सब कोई कहे ठग, ठाकुर अरू चोर।
बिना प्रेम रीझें नहीं तुलसी नंद किशोर॥

मुंड भाव में ऊपरी मुंडन नहीं, पाँच इन्द्रियों व मन मुंडन करना है। औरंगजेब ने किया था बाह्य मुंडन। सभी मूर्तियों में से किसी के कान काटे, किसी की नाक काटी और किसी का और कोई अंग खण्डित किया, किसी भी मूर्ति को अखंड नहीं रहने दिया। प्रभु ने कहा है—5 इन्द्रियों के विषय से मुंडना है। आकर्षक दृश्यों पर चक्षु का आकर्षण नहीं बने। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों का भी उनसे संबंधित वस्तु के प्रति आकर्षण न बने। मन को अशुभ विचारों से मोड़ें। वचन को भाषा समिति से समित करें—कहा भी है—साधु सोहंता अमृत वाणी। इसी प्रकार काया

को भी संवृत करें। नग्न भाव और मुंड भाव से हमारे जीवन में अमृत बूँदें बरसेंगी, फिर मरण की स्थिति नहीं बनेगी। मरण वह होता है जो इंद्रियों की गुलामी में हो। महासतीजी ने युगद्रष्टा आचार्यदेव श्रीजवाहर के चरणों में, जब वे अस्वस्थता के कारण भीनासर विराजित थे, निवेदन किया—**आलितेण भंते लोए, पलितेण भंते!** — भगवन् यह संसार जल रहा है, विषय-वासना का भयंकर ताप है। वासना का भी ज्वर होता है, शरीर धूजने लगता है। व्यक्ति समझ नहीं पाता। यह ताप जीवन को गरमी देकर भीतर की शक्ति को नष्ट कर देता है। भगवान् मुझे इस ताप से बचा लो। साधु धर्म में प्रवेश दिला दो। विनती की तो आचार्य भगवन् ने उनकी भावना को समझा और फिर वह कवच पहना दिया जिसके भीतर ताप का प्रवेश नहीं हो सकता। राजगृह में रत्न कम्बल के व्यापारी पहुँचे, आजकल जिस प्रकार बाटरपूफ तकनीक द्वारा जल से बचाव हो सकता है वैसे ही ये फायरपूफ रत्न कम्बल होते थे जिन्हें ओढ़कर व्यक्ति आग में कूदकर भी सुरक्षित रह सकता था। आज हम विज्ञान की खोज पर विस्मित होते हैं पर ये हमारे प्राचीन कलाकार कितनी कलाएँ जानते थे, इसका ध्यान नहीं रखते। वे कम्बल आग और पानी में कवच-रूप होते थे। भगवान् ने भी कवच दिया है। वह है संवर रूप, संयम रूप। जो आश्रवों को रोकता है। आचार्यदेव ने प्रभु का वह कवच उन महासतीजी को पहनाया और फरमाया—अब तुम्हारी आत्मा के निकट विषय-वासना की आग फटक ही नहीं सकेगी करेमि भंते! सामाइयं सब्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावजीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अनं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। और आजीवन सावद्य कार्यों का त्याग करवा दिया। ऐसा कार्य तो वीर ही कर सकते हैं। कहा भी है—

प्रण वीरा रो श्रृंगार, कायर कईं लेसी।

यह तो वैसी ही बात है जैसे रेलगाड़ी में यात्रा करनी हो तो कुछ खर्च करना होगा। टिकट नहीं लिया तो टिकट निरीक्षक जेल की हवा खिलायेगा। उस यात्रा में ऐसे की टिकट होती है जबकि मुक्ति का

टिकट त्याग है और त्याग से ही मुक्ति रूप गंतव्य मिलता है। त्याग की इतनी महत्ता नहीं होती तो प्रभु उसे क्यों अपनाते? आप कहेंगे-माता मरुदेवी तो हाथी पर आरुढ़ थीं और मुक्त हो गई पर ऐसी माता मरुदेवी कितनी हुई हैं? उन्होंने उस भव में त्याग भले ही न किया हो पर पूर्व जन्मों में खूब तपस्याएं की थीं। आगे बढ़ना है तो त्याग को अपनाना ही होगा।

एक सेठ महात्मा के पास गया। महात्मा ने कहा-कोई त्याग ले लो। सेठ ने कहा-अब आप कहते ही हैं तो यह नियम दिला देवें कि मेरे घर के सामने जो कुंभकार रहता है जिसके सिर पर बाल नहीं हैं, मैं प्रतिदिन उठता हूँ तो जो सामने दिख जाता है उसकी याट जिस दिन नहीं देखूँ, भोजन नहीं करूँ। महात्मा ने सोचा-कोई बात नहीं, चलो इसकी भावना तो बनी। एक बात याद आ गई। एक भिक्षु 12 वर्ष तक सेठ के घर भिक्षा के लिए घूमता रहा पर किसी ने कुछ देना तो दूर रहा एक शब्द भी नहीं कहा। एक दिन सेठानी ने कह ही दिया-‘क्यों आता है रोज-रोज, मैं कुछ नहीं देती।’ भिक्षु तो मारे प्रसन्नता के झूमने लगा। वह घर से बाहर निकल रहा था इतने में सेठजी आ गए। सेठजी भी मक्खीचूस थे। रोटी लूखी खा लेते पर धी तिजोरी पर चोपड़ा जाता। देखा-भिक्षु प्रसन्न है। पूछा-क्या बात है, बहुत खुश हो? उत्तर मिला-अरे, मुझे तो आज भीख मिल गई। सेठजी दौड़े घर के भीतर। पूछा-सेठानी! तुमने ये क्या किया, एक को दोगी तो भीड़ लग जायेगी। सेठानी ने कहा-अरे बाबा, मैंने तो कुछ दिया ही नहीं। सेठ ने कहा-तो क्या वह झूठ बोल रहा था? खेर, पहुँचे उसके पास। तुम साधु होकर झूठ बोलते हो, तुम्हें तो सेठानी ने कुछ दिया ही नहीं है। भिक्षु ने कहा-हाँ हाँ, उसने मुझे दिया है। ‘हंकार’ नहीं तो ‘नकार’ ही सही। आज नकारा तो दिया है, आज के पूर्व तक बोलती भी नहीं थी। अब कभी ‘हंकारा’ भी देगी। इसीलिए मैं खुश हूँ। बात सेठ और कुंभकार की चल रही थी। महात्मा ने भी सोचा सेठ की त्याग की भावना तो बनी। नियम दिला दिया। बराबर पालन होता रहा। एक दिन कुंभकार मुँह अंधेरे ही मिट्टी लेने चला गया। सेठ देर से उठा। सोचने लगा-पता नहीं मिट्टी की खदान से

वह कब आएगा। मैं ही खदान पर चला चलूँ। उधर कुम्हार ने ज्योंही मिट्टी की खुदाई की, एक सोने का चरू दिखाई दिया। तुरंत मिट्टी चरू पर डाल दी। उसने सोचा-अभी लेना ठीक नहीं है रात्रि में आकर ले जाऊँगा। वह काम करके उठ ही रहा था कि सेठ ने जोर से आवाज लगाई ‘देख लिया, देख लिया।’ कुम्हारा डरा-अरे, इसे तो मेरा राज मालूम चल गया। अब क्या होगा? उसने भी कहा-देख लिया यह तो ठीक है पर अब चिल्लाता क्यों है। सेठ ने समझा जरूर दाल में काला है। बोला-चिल्लाऊँ क्यों नहीं। जब मैंने देख लिया। कुम्हार ने कहा-अरे भाई, दो जने और आ गए तो फिर हिस्सा बंट जायेगा। वणिक भाई को समझते देर नहीं लगी। बोले-तो फिर लाओ मेरा हिस्सा। उन्हें आधा हिस्सा धन का प्राप्त हो गया। अब विचार आया कि मैं तो त्याग का मखौल उड़ाया था फिर भी उपलब्धि हुई। इसका मतलब है त्याग की बहुत महिमा है। इसके बाद तो उसने अनेक त्याग व्रत ले लिये। त्याग पर श्रद्धा बढ़ गई थी। त्यागमय जीवन अपनाकर महासतीजी ने जीवन सफल किया। संयोग की बात है, दीक्षा भी ग्यारस को ली, ग्यारस को ही प्रयाण कर दिया। तब यह समझ लें कि त्याग की महिमा अपरम्पार है और किसी रूप में ही सही, किसी प्रकार का त्याग करने का व्रत अवश्य लें। श्रद्धा बढ़ेगी, साधना घनीभूत होगी और प्रभूत धर्म-लाभ होगा। यह धर्म-लाभ जीवन का निश्चित रूप से उद्धार करेगा, यह हम विश्वास रखें।

ग्यारस को दीक्षा लेकर उन्होंने शासन में सदा एक और एक ग्यारस का ही काम किया। उनकी शासन के प्रति निष्ठा-समर्पणा अनूठी थी। गुरु आज्ञा को उन्होंने सदैव अहमियत दी। एक संभ्रांत परिवार में जन्म लेने के बावजूद उन्होंने त्याग का उच्च आदर्श स्थापित किया। दीर्घ काल तक संयमी जीवन का पालन कर शासन की भव्य प्रभावना की और त्यागमय जीवन का आदर्श बन गई।

2

रक्षाबंधन पर्व का संदेश

**पद्मप्रभु जिन तुज! मुज आंतक रे, किम भांजे भगवंत?
कर्म विपाके कारण जोईने रे, कोई कहे मतिमंत॥**

पद्मप्रभु भगवान की प्रार्थना से संबंधित इन पंक्तियों में कवि आनंदघनजी भगवान के चरणों में आत्म समर्पण की बात कह रहे हैं। इस प्रसंग में आत्मा के तीनों भेदों-बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की परिकल्पना वे कर लेते हैं। प्रार्थना में मानो उनकी अन्तरात्मा प्रभु के चरणों में यह अनुभूति कर रही है कि मैं और परमात्मा दोनों एकजातीय हैं। हम दोनों का स्वरूप एक है और मैं बहुत बार उनके साथ खेला हूँ, उठा-बैठा हूँ और शयन भी किया है। हमारे बीच इतनी गहरी प्रीत रही पर आज वे मुझसे बहुत दूर हैं। लेकिन मैं दूर नहीं रह पा रहा हूँ। उनके स्वर निकल पड़े-पद्मप्रभु जिनेश्वर, बताओ कि तुम्हारे और मेरे बीच का यह अन्तर, व्यवधान, दूरी, ‘किम भांजे भगवन्त?’ अर्थात् किस प्रकार दूर हो। व्यवहार जगत् में सांसारिक प्राणी अपने प्रियतम या मित्र से मिलने की तीव्र भावना होने पर साधनों के माध्यम से कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। कवि भी मिलने का इच्छुक है और मिलन का मार्ग पूछ रहा है, पर क्या परमात्मा उत्तर देंगे? हमने परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निरंजन, निराकार माना है। निराकार परमात्मा अर्थात् ऐसा परमात्मा जिसका आकार-प्रकार नहीं, जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं। आचारांग सूत्र में कहा गया है-जिसमें वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, जो दीर्घ नहीं, हस्त नहीं, ऐसे स्वरूप वाला परमात्मा

कहाँ से और कैसे उत्तर देगा? उत्तर देने के लिए वचन की जरूरत होती है, यद्यपि वचन के बिना भी उत्तर दिया जा सकता है। कान से कम सुनने वालों या बधिरों को इशारे से समझाया जाता है यद्यपि इशारे के लिए भी काया की जरूरत होती है। पर उनके तो काया भी नहीं है। ऊपर के देवलोक के देव कभी-कभी अरिहंत प्रभु से प्रश्न पूछते हैं तब प्रभु वचन और काया से नहीं किन्तु मनोवर्गणा को उस प्रकार का अवस्थान करते हैं और उससे वे देव मंतव्य समझ लेते हैं। तात्पर्य यह है कि उत्तर देने के लिए कोई-न-कोई पौद्गलिक यंत्र चाहिये। आप यंत्रों का तात्पर्य अप्राकृतिक यंत्र न लें। यद्यपि वे भी सहयोगी होते हैं पर आत्मा के भीतर के यंत्र स्वतः तैयार होते हैं और विकसित होते हैं। बाहर के यंत्र इन्हें प्रकट नहीं कर सकते। बाहर के यंत्रों को निर्मित किया जाता है पर यदि भीतर के यंत्र नहीं हैं तो ये बाह्य यंत्र निरर्थक होगें। यंत्रों के माध्यम से उत्तर दिया जा सकता है पर सिद्ध भगवान् के पास ये यंत्र नहीं हैं। न इन यंत्रों के माध्यम से वे उत्तर देते हैं फिर भी कवि उत्तर पाते हैं और वे यह उत्तर पाते हैं अपनी आत्मा में। कवि कह रहे हैं— पद्मप्रभ जिन तुज मुझ आंतरू रे...

प्रभो! यह अन्तर क्यों आ गया है? स्थानांग सूत्र में कई चौभंगियाँ हैं, उन्हीं में एक चौभंगी है—

**चत्तारि पुरिसजाया पण्णता, तं जहा-आयाणुकंपए णाममेगे
णो पराणुकंपए, पराणुकंपए णाममेगे णो आयाणुकंपए, आयाणुकंपए
णाममेगे पराणुकंपए, णो आयाणुकंपए णाममेगे णो पराणुकंपए।**
स्थानांग सूत्र ४/४

अर्थात् पुरुषजात चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—

1. एक पुरुष अपने पर अनुकम्पा करने वाला होता है किन्तु दूसरे पर अनुकम्पा करने वाला नहीं होता।
2. एक पुरुष दूसरे पर अनुकम्पा करने वाला होता है परन्तु अपने पर अनुकम्पा करने वाला नहीं होता।
3. एक पुरुष अपने पर अनुकम्पा करने वाला होता है और दूसरे पर भी अनुकम्पा करने वाला होता है।

4. एक पुरुष न अपने पर अनुकम्पा करने वाला होता है और न दूसरे पर अनुकम्पा करने वाला होता है।

प्रथम भंग के अन्तर्गत प्रत्येकबुद्ध अथवा जिनकल्पित मुनि आते हैं! प्राणीमात्र पर अनुकम्पा भाव होते हुए भी प्रत्येकबुद्ध और जिनकल्पिक मुनिराज अन्य मुनियों की सेवा-परिचर्चा नहीं करते। ये मुनि न किसी को उपदेश देते हैं और न किसी को दीक्षित करते हैं। मात्र अपनी आत्म-साधना, आत्म-कल्याण का ही लक्ष्य रखते हैं। इसके अलावा इस भंग में वे व्यक्ति भी परिगणित किये जा सकते हैं जो नितान्त स्वार्थी हों अथवा निर्दयी हों, दूसरों का उपकार नहीं करते हों, केवल स्वयं के लिए ही जीते हों।

दूसर भंग में उन पुरुषों को लिया गया है जो अपनी अनुकम्पा नहीं करते प्रत्युत दूसरों पर अनुकम्पा करते हैं एवं इस हेतु सतत जागरूक रहते हैं। इस भंग के अन्तर्गत तीर्थकर महाप्रभु मेघरथ राजा एवं मेतार्य मुनि जैसे सत्यपुरुषों की गणना की जाती है। तीर्थकर कृतकृत्य होन के बावजूद जगतप्रेक्षी होकर उपदेश देते हैं और मोक्ष-मार्ग दिखाते हैं। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है—‘सब्ब जग जीव रक्खण दयद्याए, भगवया पावयणं सुकहिवं’ अर्थात् प्रभु ने संसार के सभी जीवों की रक्षा-रूप दया के लिए प्रवचन कहा है।

तृतीय भंग में स्थविरकल्पी मुनि होते हैं जो स्वात्म-अनुकम्पा के साथ पर-अनुकम्पा भी करते हैं। वे आत्मसाधना में रत रहते हुए परोपदेश भी करते हैं, भव्यों को दीक्षित करते हैं और उनकी साधना में सहायक बनते हैं। ‘स्वपरकार्याणि साध्यति इति साधुः’ इस उक्ति को वे चरितार्थ करते हैं।

चतुर्थ भंग के अन्तर्गत कालशौकरिक कसाई आदि को ग्रहण किया जा सकता है जो अपनी और पराई दोनों की दया-अनुकम्पा से रहित होता है। बात परोपकार की है और उससे जुड़ा है आज का प्रसंग, रक्षाबंधन का प्रसंग। रक्षाबंधन के विषय में लोग इतिहास के संदर्भ लाते हैं। इतिहास दोहराने या समझने के लिए कुछ कह देते हैं या जिस प्रवाह में बहते चलते हैं उस कर्तव्य को अदा कर देते हैं।

रक्षाबंधन का अर्थ करते हैं—बहिनों को पीहर बुलाना, राखी बंधवाना, बदले में सामर्थ्य के अनुरूप भेंट दे देना। वर्ष-भर बाद फिर जब त्योहार आता है तब फिर बहिन को बुला लिया जाता है पर शेष वर्ष-भर कभी उसकी खबर नहीं ली जाती कि वह सुख में है या दुःख में है। राखी के लिए हाथ बढ़ाया पर सुख-दुःख में यह हाथ कितना बढ़ पाता है, यह सोचने की बात है। राखी का पर्व ब्राह्मण भी मनाते हैं। यजमानों के घर जाकर राखी बाँधते और कुछ भेंट प्राप्त करते हैं। व्यापारी तो दवात, कलम, गल्ले-सबके राखी बाँधते हैं। पर यह रक्षा-सूत्र चला कहाँ से? यदि हम आगमों में ढूँढ़ें तो कोई उल्लेख नहीं मिलेगा इस पर्व के प्रवर्तन का। कोई घटना घट जाय, यह अलग बात है पर घटना-घटने से तो कोई पर्व नहीं बन जाता। घटना तो यह भी घटी थी कि गजसुकुमाल के सिर पर अंगारे रखे गए, पर वह घटना पर्व नहीं बनी। एक दिन हम भी तो देखें सिर पर अंगारे रखा कर! मनाएं पर्यूषण में एक दिन यह भी पर्व और करें अनुभूति। मिठाई खाने को मिले वह पर्व अच्छा, पर यदि सिर पर अंगारे रखने पड़ें तो वह बुरा। आप नहीं मनाते वह पर्व, पर साधु मनाते हैं। अंगारे तो वे भी नहीं रखाते, पर हाँ, लोच कर लेते हैं। जहाँ तक मुझे जानकारी है, आगमों में रक्षा बन्धन के विधि-विधान और तरीके उपलब्ध नहीं हैं। वैदिक ग्रंथों पर यदि दृष्टि दौड़ाई जाये तो जिस सूत्र को लेकर रक्षाबंधन का प्रसंग उपस्थित होता है वह भविष्य पुराण का यह श्लोक है—

येन बद्धो बलि राजा दानवेन्द्रो महाबलः।

तेन त्वां प्रतिबधामि रक्षे मा चलमाचल॥

और ब्राह्मण इस सूत्र के उच्चारण के साथ रक्षासूत्र बाँधते हैं। हम जगा सोचें कि इसका अर्थ क्या है? अर्थ है—जिसके द्वारा बाँधा गया दानवों का इन्द्र महाबलवान बलिराजा, उसी से तुम को बाँध रहा हूँ। रक्षा करना—तुम चलित मत होना—चलित मत होना। इतिहास सुनें हम उस महाबली का। उसे अहंकार हो गया कि मेरा जैसा कोई दानी और बलशाली नहीं है। अहं के कारण वह अत्याचार करता गया। पुराणों में माना गया है कि विष्णु अवतार लेते हैं। वे वामन का रूप धरकर पहुँचे

बलि के द्वार-पर। बलि उस समय यज्ञ करवा रहे थे और उनका यह प्रण था कि यज्ञकाल में आने वाला कोई भी भिक्षु उनके द्वार से खाली नहीं जाये। बलि ने वामन को देखा तो कहा-जो चाहिए वह माँग लो। व्यक्ति अहं में चूक कर जाता है। अहं में विवेक नहीं रहता। बलि प्रतिज्ञाबद्ध हो गया। वामन ने कहा-राजन्, क्या कह रहे हो, पुनः सोच लो। बलि ने कहा-हाँ, हाँ मैंने सोच लिया है, माँगो तो सही। वामन ने कहा-मुझे 3 पैर जगह दे दो। बलि ने आश्चर्यपूर्वक कहा-क्या माँगा है तुमने! मैंने तुम्हें तीन पैर पृथ्वी प्रदान की। कहा जाता है कि वामन रूपधारी विष्णु ने एक पैर से सम्पूर्ण पृथ्वी और दूसरे से स्वर्ग नाप लिया। तीसरा पैर बाकी था। तीसरे पैर के लिये स्थान नहीं था अतः बलि ने अपनी पीठ नपा दी। प्रसन्न होकर विष्णु ने बलि को पाताल लोक का राजा बनाकर वहाँ भेज दिया। जैसे बलि वचन प्रतिबद्धता में बंधा, क्या आपको भी वैसे ही वरुण पाशों में बंधना है? लेकिन वहाँ पर भाई-बहिन की रक्षाबंधन का प्रसंग नहीं है। उस समय के एक कथानक का उल्लेख और है जब दानवों से परेशान होकर इन्द्र युद्ध के लिए जा रहे थे। दानवों की प्रचंड शक्ति से देव भी थर्गते थे और उनका विनाश करने के लिए जाने से पूर्व इन्द्र अपनी पत्नी के पास विदा लेने पहुँचे। तब शाची (इन्द्र की पत्नी) ने अपनी सारी शक्तियों का संप्रेषण करने के लिए अपने हाथों से उनके विजय का प्रतीक सूत्र बाँध कर विजय तिलक किया था। पौराणिक आख्यान के अनुसार इन्द्र को दानवों पर विजय प्राप्त हो गयी थी। जिस भावना से इन्द्र के रक्षासूत्र बाँधा गया था वह भी घटनाक्रम ही था। उससे भी रक्षाबंधन भाई-बहिन का त्योहार-सिद्ध नहीं होता है। मनुस्मृति में एक श्लोक है जिसमें भी यह कथन नहीं है कि यह भाई-बहन का त्योहार है।

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने॥

पुत्रस्तुस्थविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमहीते॥

इसका अर्थ यह है कि स्त्री बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा रक्षित, युवावस्था में पति द्वारा और वृद्धावस्था में पुत्र द्वारा रक्षित होती है। लेकिन उसमें भाई का कहीं उल्लेख नहीं है। यहाँ तक बताया गया है

कि स्त्री ‘न स्वातन्त्र्यम् अर्हति’। स्वतंत्र रहने में सक्षम नहीं तो फिर स्वतंत्र रूप से किसी की रक्षा क्यों अपनाये? कतिपय प्रश्न उभरते हैं कि फिर यह प्रवृत्ति कैसे चली?

लगभग 800 वर्ष पहले से यह प्रसंग चल रहा है कि बहिन भाई के राखी बाँधती है और ब्राह्मण यजमान के तथा यह आमदनी का जरिया बन गया है। एक ऐतिहासिक प्रसंग भी है कि महारानी कर्मावती ने जब देखा कि चित्तौड़ पराजित होने की स्थिति में आ गया है क्योंकि बहादुरशाह की विशाल सेना टिड्डी दल की भाँति आक्रमण के लिए पहुँच गयी थी तब उसने हुमायूँ को राखी प्रेषित की और हुमायूँ उसका सम्मान कर रक्षा के लिये चित्तौड़ पहुँचा भी परन्तु उसे विलम्ब हो गया था और कर्मावती जौहर कर चुकी थी, पर यह भिन्न प्रसंग है। परन्तु यह एक अर्वाचीन उल्लेख है। प्राचीन काल का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

इस स्थान पर एक जैन कथानक का उल्लेख उपेक्षित है। नमुचि प्रधान जैन साधुओं के प्रति ईर्ष्या रखता था। एक बार महाराज ने प्रसन्न होकर उसे एक वरदान दे दिया था। उसने अवसर देखकर सात दिन का राज्य माँग लिया। उसी अवधि में उसने जैन साधुओं पर इल्जाम लगाकर दंडित करने का विचार किया। यह बात आचार्यवर ने आकाश में नक्षत्रों के प्रकंपन से भाँप ली कि किसी अनिष्ट की आशंका है। पृथ्वी पर जब भी कोई भयानक आपदा आने वाली होती है, किसी बहुत बड़े राजा या आचार्य का वियोग होता है तो इसी प्रकार प्रकृति भावी अनिष्ट का संकेत दे देती है। प्रकृति की यह प्रतिक्रिया इस कारण होती है कि उसे भी यह मंजूर नहीं होता है। वह भी इस वियोग को सहन नहीं कर पाती। जब तीर्थकर का निर्वाण होता है तो एक क्षण के लिए तीनों लोकों में अंधकार फैल जाता है। आचार्यश्री के मुँह से सहसा उच्चरित हुआ कि धर्मसंघ पर संकट आ गया है। संतों ने पूछा-भंते! कोई उपाय नहीं है क्या? उत्तर मिला-उपाय तो हो सकता है पर समय कम है। अधिक आग्रह पर गुरु ने बताया कि यहाँ से बहुत दुरी पर विष्णुकुमार मुनि विराज रहे हैं, अभी चातुर्मास काल चल रहा है। जाने की स्थिति नहीं है। यदि वहाँ जाया जा सके तो उनमें वह शक्ति

है कि वे वैक्रियलब्धि से संघ की रक्षा कर सकते हैं। एक मुनि ने निवेदन किया—‘भंते! आपकी कृपा से मुझमें वहाँ जाने की शक्ति है।’ गुरु ने कहा—‘वत्स, यदि तुम उन्हें यह संदेश पहुँचा दो तो रक्षा का कुछ उपाय हो सकता है।’ वैक्रियलब्धि से मुनि पहुँच गये। विष्णु मुनि महाराज के भाई थे। वे नमुचि के दरबार में उपस्थित हुए। नमुचि ने कहा—मैं किसी को कुछ देना नहीं चाहता और फिर जैन मुनि से मुझे चिढ़ भी है पर तुम चूँकि महाराज के भ्राता हो अतः तुम्हें दिया जायेगा—माँगो! विष्णु मुनि ने भी उसी प्रकार 3 पैर की जगह माँगी, सम्पूर्ण ढाई द्वीप को माप लिया और आधा पैर खाली रह गया। लेकिन रक्षाबंधन की घटना का भाई—बहन से कोई संबंध इसमें भी नहीं है। पर इससे पर्व की महिमा घटती नहीं है। आज के इस पर्व को हम त्याग और बलिदान का पर्व मान लें और राखी के लिए हम जो हाथ आगे बढ़ाते हैं वह हाथ संपूर्ण नारी जाति के उत्थान के लिए बढ़े तो पर्व की सार्थकता सिद्ध हो जायेगी। नारी जाति पर यदि अत्याचार होते रहेंगे तो धर्म की रक्षा की कठिन होती जायेगी।

पुराने युग की बात कुछ और थी पर आज यह पर्व प्रदर्शन का विषय बन गया है। इसने एक व्यावसायिक रूप ले लिया है। बहिन सुंदर एवं मूल्यवान राखी बाँधती है ताकि भाई के हाथ का सौंदर्य बढ़ जाये पर कहीं इससे परस्पर ईर्ष्या और द्वेष का बीजारोपण तो नहीं होता है? बेचारी वह गरीब बहन, जिसने सामान्य राखी बाँधी और वह अमीर बहन, जिसने सुंदर राखी बाँधी, उन दोनों के बीच व्यवहार में आप अन्तर तो नहीं करते हैं? ये बातें हीन भावों को पैदा करती हैं। उसके दिल पर गहरी चोट लगेगी। फिर क्या वह बहन पीहर आना चाहेगी? क्या इसी प्रकार आप उसकी रक्षा करेंगे? ब्राह्मण 100/200 रूपये की आमदनी कर रहा है, वहाँ भी रक्षा का उद्देश्य कहाँ है? कहीं उद्देश्य से विपरीत प्रक्रिया तो नहीं हो रही है? रक्षा का विलोम ‘क्षार’ है। कहीं किसी के दिल पर आप क्षार तो नहीं डाल रहे हैं। यदि यह प्रवृत्ति बढ़ रही है तो हम राखी बँधवाकर घाव पर नमक डाल रहे हैं—चूँकि क्षार का मतलब नमक भी है। घाव पर नमक डालें तो जलन होती है। रक्षा

के बहाने हम ईर्ष्या को तो नहीं पनपा रहे हैं? यदि बहन कर्मोदय से गरीबी का दुःख भोग रही है और उस पर राखी का विलोम व्यवहार खीरा (आग) डालना तो नहीं हो रहा है? रक्षा के लिए चाहिए त्याग और समर्पण। हम केवल पर्व की औपचारिकता की पालना में नहीं रह जायें।

हम भी कहते हैं राखी बँधवाओं पर परमात्मा ने तो पहले ही राखी बँध दी है। आपको साधु-साध्वी की रक्षा का दायित्व सौंपा है। इन साधु-साध्वियों को भूमंडल पर विचरण का आदेश मिला हुआ है, जो स्वयं शक्रेन्द्र ने दिया था जब वह स्वयं प्रभु के चरणों में उपस्थित हुआ था और कहने लगा था कि मैं संयमी मर्यादाओं को जान पाया हूँ, अपने अवग्रह का भी ज्ञान हो गया है। मैं साधु-साध्वियों को भूमंडल पर विचरण करने की आज्ञा देता हूँ। आज भी यदि सजगतापूर्वक जोर से उच्चारणपूर्वक शक्रेन्द्र महाराज के नाम से अनुमति ली जाये तो उपद्रव का प्रसंग नहीं बने। साधु-साध्वी के संयमी जीवन की जानकारी श्रावक-श्राविका को होनी भी आवश्यक है। श्रावक 'स्व' के ब्रतों में दृढ़ रहता हुआ साधु जीवन की रक्षा के दायित्व को समझे। तीर्थकर भगवान परानुकंपी होते हैं और भव्य प्राणियों की आराधना हेतु चार तीर्थों की स्थापना करते हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। जब स्वयं भगवान विराजमान थे और गणधर भी उपस्थित थे तब भी वे संघ को महत्त्व देकर उसकी सारणा, वारणा, धारणा का निर्वहन करते थे। प्रभु ने जब अपना अंतिम क्षण नजदीक देखा तब भी वे तीर्थ से निरपेक्ष नहीं हुए कि मैं तो मोक्ष जा रहा हूँ तीर्थ से मुझे क्या लेना-देना? गणधर श्री सुधर्मा स्वामी को उन्होंने स्वयं की मौजूदगी में आचार्य पद पर आसीन किया और संघ को यह प्रतीति करवाई कि मेरे बाद प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान आपको इनके निर्देशन व नेतृत्व में करना है। यदि आप ऐसा करेंगे तो ही आपकी वह आराधना पल्लवित होगी। प्रश्न किया जा सकता है कि आचार्य की क्या जरूरत है? पर ऐसा प्रश्न अविवेक पर आधारित ही होगा। प्रभु ने चारों तीर्थों की सुरक्षा का महत्त्व समझा और सुधर्मा स्वामी को उस हेतु मनोनीत किया। उनके बाद जम्बू

स्वामी और प्रभव स्वामी तथा उनके बाद आज तक यह परंपरा अक्षुण्ण रूप से गतिमान है। यदि परंपरा नहीं होती तो क्या हम आगम का स्वरूप समझ पाते? व्यवहार सूत्र में कहा गया है—आचार्य-उपाध्याय के बिना साधु-साध्वी को रहना नहीं कल्पता है। प्रश्न होगा कि जब बात आचार्य और उपाध्याय की कही गई है तब फिर आज उपाध्याय क्यों नहीं है? तब यह समझ लें कि वहाँ पर कथन है ‘आयरिय उवज्ञायस्स’ अर्थात् आचार्य-उपाध्याय इस कथन में एकवचन का प्रयोग हुआ है। उसकी टीका में आचार्य एवं उपाध्याय लिखा है। अतः आचार्य में उपाध्याय का समावेश है।

व्यावहारिक क्षेत्र में यदि हम राजनीतिक क्षेत्र पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि जो प्रधानमंत्री बनता है वह मंत्रालयों के विभागों का विभाजन करता है और कभी-कभी कुछ विभाग अपने अधीन भी रख लेता है। उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में आचार्य सर्वप्रमुख होते हैं। वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखते हुए आवश्यक पद-वितरण कर सकते हैं। आवश्यक नहीं समझते तो नहीं करते हैं। आचार्य श्रीलालजी म.सा. ने पाँच गणावच्छेक नियुक्त किये थे और निर्देश किया था कि अमुक भाग का नेतृत्व अमुक करेंगे और शेष जो मेरे नेतृत्व में हैं, उनका दायित्व मेरे ऊपर रहेगा। समय बदला, अजमेर साधु सम्मेलन की स्थिति बनी। संवत् 1990 के अजमेर वृहत्साधु सम्मेलन में युगद्रष्टा ज्योतिर्धर श्रीजवाहराचार्य ने एकता की नयी रूपरेखा दी जिसमें सुरक्षा के भाव को लेकर एक ही आचार्य के नेतृत्व में एक शिक्षा, एक दीक्षा की बात कही गयी। उनका मानना था कि यदि फिरकेबाजी होनी लगी, जैसी परिवारों में हो जाती है और एक ही पिता के चार पुत्र अलग-अलग परिवार बसाते हैं वैसे ही अलग-अलग शिष्य बनाये जायेंगे तो प्रत्येक साधु चाहेगा कि ये मेरे श्रावक हैं अतः इनके पुत्र आदि दीक्षा लें तो वे मेरी ही शिष्य बनें, इस प्रकार की भावना से गुरु की अवमानना होगी। स्वच्छंद विचरण से अनुशासनहीनता को प्रोत्साहन मिलेगा। यह अनोखी सूझ-बूझ व दीर्घ दृष्टि से लिया गया निर्णय था। एक आचार्य के नेतृत्व में वहाँ लगभग 26 सम्प्रदायों के साधु मौजूद थे, सभी ने इस हेतु सहमति प्रदान की और कहा आपका नाम ही जवाहर

नहीं है किन्तु आपके विचार भी जवाहर की भाँति अनमोल हैं, इसी आधार पर परंपरा की सुरक्षा भी संभव है। इस प्रकार की समझ और वातावरण को सुरक्षित रखना आवश्यक है। अतः सभी एक गच्छ, एक आचार्य के सिद्धांत का निष्ठापूर्वक पालन करें तथा करावें। एकता के संदर्भ में उस समय मुख्य बात यह उभरी कि सर्वप्रथम आचार्यश्री हुक्मीचन्दजी म.सा. के संप्रदाय का एकीकरण होना चाहिए। पूर्व में आचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. ने अनुशासन भंग एवं संयम शैथिल्य के कारण कुछ साधुओं को संघ-निष्कासित कर दिया था। संघ-निष्कासित साधुओं ने अपना पृथक आचार्य बना लिया था। स्थानकवासी संप्रदाय के इस प्रमुख बड़े संप्रदाय के एकीकरण के अभाव में एकता अभियान को आगे बढ़ाया नहीं जा सकता था। अतः शतावधानी श्रीरत्नचंदजी म.सा., आचार्यश्री अमोलकऋषिजी म.सा., युवाचार्यश्री काशीरामजी म.सा., पंडितरत्नश्री नानकचंदजी म.सा., पं.रत्न मणिचंदजी म.सा.-ये पाँच पंच बनाए गए और पूज्यश्री हुक्मीचंदजी म.सा. के संप्रदाय की दोनों शाखाओं का एकीकरण हुआ। निर्णय यह हुआ कि पूज्यश्री जवाहरलालजी म.सा. व पूज्यश्री मन्नालालजी म.सा. ये दोनों आचार्य रहेंगे। इसके साथ ही भविष्य की आचार्य परंपरा का निर्धारण भी कर दिया गया कि पंडितरत्नश्री गणेशीलालजी म.सा. को युवाचार्य पद और पंडितरत्नश्री खूबचंदजी म.सा. को उपाध्याय पद पर आरूढ़ किया जाय तथा आगे की दीक्षाएँ श्री युवाचार्यश्रीजी के नेतृत्व में हों। इस प्रकार एकीकरण हुआ। कालान्तर में आज्ञा की अवमानना का प्रसंग बना। पंडितरत्न श्रीधासीलालजी म.सा. आदि कतिपय संत आज्ञा में नहीं चल रहे थे, कान्फ्रेन्स ने भी उन्हें काफी समझाया पर जब वे नहीं माने तब आचार्य श्रीजवाहरलालजी म.सा. ने उनको संघ से निष्कासित कर दिया। उनके साथ जिन्होंने व्यवहार रखा वे सैद्धांतिक दृष्टि से आचार्य की अवमानना में भागीदार हुए। यदि कोई संघ की इसी प्रकार अवमानना करता है तो आचार्य का मूलोच्छेद होता है। चतुर्विध संघ पर कुठाराघात होने से ध्वंस की स्थिति बनती है।

एक बार संघ की अवमानना होती है तो अनेक व्यक्तियों में

राग, द्वेष, संक्लेश का उद्भव होता है। यह संघ किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, यह तो तीर्थकरों की पावनधारा है। जो संघ को छिन्न-भिन्न करता है, विभिन्न घटकों में वैमनस्य उत्पन्न करता है वह महापाप का उपार्जन करता है। दशाश्रुत स्कंध में उसे महामोहनीय कर्म का बंधक कहा है और जो उसे सहयोग देता है वह भी उसमें भागीदार बनता है। गीते आटे के पास यदि सूखा आया रखा है तो उसमें सील आये बिना नहीं रहेगी। संघ की अवहेलना वास्तव में तीर्थकरों की वाणी की अवहेलना है। आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. ने इसे संघ पर कुठाराघात कहा है। ऐसा होने पर क्या हम आत्मा की सुरक्षा कर पायेंगे? गाँव में एक छोर पर लगी हुई आग की लपट नहीं बुझाई गई तो वह फैलकर हमारे घर को भी स्वाहा कर सकती है। हम चिनगारी को बुझायें, न कि उस पर डीजल और पेट्रोल डालने का प्रयास करें। रक्षा सूत्र के आधार पर ही तीर्थकरों ने जिस प्रकार परंपरा का प्रणयन किया है वह आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है। उसी धारा में वर्तमान पूज्य गुरुदेव पूरी निष्ठा के साथ संघ-रक्षा के दायित्व का निर्वहन कर रहे हैं। गुरुदेव ने जीवन का बलिदान दिया है, अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। संघ को, संघ के एक-एक सदस्य को ज्ञान, दर्शन और चरित्र से पल्लवित किया है। हम भी अपना कर्तव्य समझें। रक्षा के इस पर्व पर हम यह भली भाँति समझ लें कि यदि हम कर्तव्य की पालना करेंगे तथा त्याग और बलिदान में तत्पर रहेंगे तभी संघ-सेवा कर सकेंगे। एक घर की आग स्थिति को चिंतनीय बनाती है। आग को बुझायें, भड़कायें नहीं। त्याग और बलिदान की बात इसीलिये आती है। हम भी जब दीक्षा लेते हैं तो परिवार व समाज की उम्मीदभरी निगाहें हमसे कितनी अपेक्षाएँ रखती हैं। यह कोई रहस्य नहीं है कि बालक के जन्म के साथ ही आशा के अम्बार जुड़े रहते हैं। परिजन श्वेत चादर पर केशरिया स्वस्तिक का बाना पहनाकर हमें विदा करते हैं। श्वेत चादर निर्मल जीवन का प्रतीक है। रंगीन वस्त्र में तो दाग लग भी जायें तो वह डिजाइन जैसा लगने लगेगा पर श्वेत वस्त्र में एक दाग भी चादर को बदरंग बनायेगा। केशरिया बलिदान का रंग है उससे बना स्वस्तिक हमें बलिदान की प्रेरणा देता है। यहाँ पर बलिदान से समर्पण अभिप्रेत है।

समर्पण कैसा हो? अहं का विसर्जन-रूप। इन्हीं भावों को अपनाकर आगे बढ़ना है। सभी संघ की पुण्यवानी के गीत गा रहे हैं और बहिनें भी गाती हैं-

म्हारी पुण्यवानी लगा थोड़ो जोर, संतां ने लाइजे पावणा॥

बहिनें चतुर हैं, सन्तों को पावणा के रूप में बुलाती हैं, अधिक रहे तो परिचय बढ़ेगा। परन्तु कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं-

परिचय पातक धातक साधु सुं रे।

साधु से परिचय करो पर यह भी ध्यान रखो कि परिचय कैसे होता है? आज तो गंगा उल्टी बह रही है। आज सभी व्यक्ति अपना परिचय देना चाहते हैं। चाहते हैं कि साधु मुझे पहचाने-मैं क्या हूँ। पर कवि का प्रयोजन है-यदि पाप का घात करना है तो साधु से परिचय करो ताकि अविद्या से उपार्जित अकुशल कर्मों का अपचय हो सके। हम यदि अपना परिचय देना चाहते हैं तो त्याग से, तपस्या से, ध्यान से, मौन से दें। तुंगिया नगरी के श्रावक इस भावना से पहुँचते कि हम संत-चरण में ज्ञान चर्चा करेंगे, पर्यटना करेंगे, पृच्छा करेंगे, ज्ञान विज्ञान की उन्नति करेंगे पर आज ये सब तिरोहित हो रहे हैं। हम सत्संगति से कर्म-क्षय करने का प्रयास करें। इससे ही आत्मरक्षा होगी और चारों तीर्थों की रक्षा का भी सुयोग बनेगा।

दानवेन्द्र बलि के उत्पात से विष्णु ने अवतार लेकर रक्षा की, शची ने भी विजय तिलक के माध्यम से इन्द्र की रक्षा का प्रयास किया। संघ-रक्षा में विष्णु मुनि के एवं प्रभु महावीर के तीर्थरक्षा के भावों के साथ हम भी अपने त्याग व समर्पण भावों को जोड़ दें। इस प्रकार संस्कृति की उज्ज्वलता से मंगलमय जीवन का प्रसंग प्राप्त होगा। स्वर-पर-रक्षा के उद्देश्य के प्रति हमारी कर्मठ कर्मजा शक्ति का सूत्रपात हो-यह इस पर्व पर हम कामना करें।

-रक्षाबंधन

28-8-96

3

अविद्या के नाश से प्रभु की प्राप्ति

पद्मप्रभ जिन तुज मुज आतंक रे, किम भांजे भगवंतः
कर्म विपाके कारण जोईने रे, कोइ कहे मतिमंत॥

पद्मप्रभ इस अवसर्पिणी काल के छठे तीर्थकर हुए। कवि आनन्दघनजी प्रार्थना के माध्यम से अपने मन की व्यथा व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि प्रभु तुम्हारे और मेरे बीच अन्तराल है। यदि क्षेत्र की दृष्टि से विचार करें तो लगभग सात राजू क्षेत्र का अन्तराल है। काल की दृष्टि से अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में वे मोक्ष गए थे और हम पाँचवे दुखमी आरे में चल रहे हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि हजारों-हजार सालों का बल्कि असंख्यात वर्षों का अन्तराल हो गया है। द्रव्य-दृष्टि से भी हमारा आत्मद्रव्य पुद्गलों से मिश्रित है और प्रभु पुद्गलों से उपरत होकर शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हैं। बड़ी बात यह है कि हम भाव से राग, द्वेष आदि पर्यायों से युक्त हैं और प्रभु शुद्ध सिद्धत्व पर्याय में आरूढ़ हैं। इस प्रकार चारों अवस्थाओं से हम परमात्मा से दूर हैं। कवि भी इस दूरी को महसूस करते हुए निवेदन कर रहा है-'प्रभो! यह जो अन्तर पड़ गया है वह कैसे दूर हो?' यह जो अन्तर पड़ा है इसके पीछे कारण है-हमारी द्रव्यात्मा ने कषायात्मा और योगात्मा से संबंध जोड़ा है और जब तक यह साथ है तब तक दूरी मिट नहीं सकेगी। इन योगों का निर्माण आत्मा करती है और वे योग जब प्रवृत्त होते हैं तब शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट से सम्पर्क करके कषाय भावों को पैदा करते हैं। इसके उपरांत काषायिक भावों से कर्मबंधन होता है।

वैज्ञानिक तरक्की के आज के युग में अनुसंधान के क्षेत्र में भी कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं। यद्यपि विज्ञान चेतना तक नहीं पहुँचा है लेकिन उसके बहुत करीब तक पहुँच गया है। वैज्ञानिकों ने ऐसे यंत्र ईजाद किये हैं कि यदि उनके सामने हम अपना हाथ रख दें और शुद्ध प्लेट पर फोटो लिया जाय तो केवल हाथ का ही फोटो नहीं आयेगा, उसके साथ पनपने वाली भाव तरंगें भी अंकित हो जायेंगी और यह भी ज्ञात हो जायेगा कि इर्द-गिर्द का वायुमंडल किस प्रकार की अवस्था में है। आयुर्वेद के अन्तर्गत नाड़ी देखकर इलाज किया जाता है। कभी हम सोच लेते हैं कि नाड़ी से वात-पित्त और कफ का ज्ञान होता है और उसके अनुरूप उपचार किया जाता है, लेकिन सिर्फ इतना जानने से सही उपचार संभावित नहीं है। नब्ज से यह भी जाना जा सकता है कि व्यक्ति किन भावों में चल रहा है। मानसिक स्तर के साथ स्वास्थ्य का संबंध रहता है। विज्ञान की खोज के अनुसार विचारों के अनुरूप ही हमारे शरीर में तत्त्वों का निर्माण और विनाश होता है। हीन भावनाओं और चिड़चिड़ेपन की वजह से कोष्ठबद्धता (कब्ज) का निर्माण होता है। चिड़चिड़ेपन से पित्त का प्रभाव, जिसे हम ‘एसीडिटी’ कहते हैं, हो जाता है। व्यक्ति समझ नहीं पाता है कि बीमारी क्यों हो जाती है। पहले तो सजगता नहीं रहती और फिर इन भावनाओं के कारण भोजन का रस-परिणमन सही नहीं हो पाता। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! दूरी हो गई। प्रभु महावीर की भाषा में जानना चाहें कि दूरी का कारण क्या है तो समाधान होगा कि-

जावंतविज्ञा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख संभवप।

लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्म अणंतए॥

(उत्तराध्ययन 6/1)

तब तक दूरी रहेगी जब तक पुरुष (आत्मा) के साथ अविद्या का योग है। विद्या अर्थात् ज्ञान, अविद्या अर्थात् अज्ञान। ज्ञान का मतलब सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है प्रत्युत ‘बोध रूप व्यापार’ से है। जैसे कोई व्यक्ति पुस्तक पढ़ते हुए 30/40 पृष्ठ पढ़ले और उससे पूछा जाय कि क्या पढ़ रहे हो, तो फिर वह स्वयं सोचने लगता है कि मैं क्या

पढ़ रहा था। यह ज्ञान नहीं है और ज्ञान हो भी गया तो बोध रूप व्यापार नहीं होगा। बोध रूप व्यापार तो वह है जो आपकी जानकारी में घटित होता है और जब तक वह घटित नहीं है, वह अविद्या है। आगमों की भाषा में कहा गया है कि एक अभवी आत्मा, साधु पोशाक स्वीकार कर गण का मालिक भी बन जाये और उसकी नेशाय में 500 साधु भी हो जायें। वह गौतम स्वामी जैसे कठोर क्रिया पाल लेता है अर्थात् साधु व्यवहार में दोष नहीं लगाता। यह तो बहुत सरल बात है। एक हिंसक व्यक्ति सही रूप में अहिंसा का पार्ट अदा कर सकता है पर एक अहिंसक हिंसा का आचरण नहीं कर सकता। प्रभु महावीर को, जिनके जीवन में अहिंसा समाई हुई थी, संगम ने कितने उपर्सर्ग दिए फिर भी हिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं पनपी क्योंकि भावों में अहिंसा उत्तर गई थी। पर जिसके भावों में अहिंसा नहीं, वह अहिंसा का आचरण कुशलता से कर लेता है और कोई जान नहीं पाता कि सत्य क्या है? हम आचरण ऊपरी तौर पर देखते हैं पर आचरण यदि ज्ञानी की दृष्टि में सही नहीं है तो वह अविद्या ही है। प्रभु के चरण में भी रहते हुए उसमें अविद्या मौजूद है। वह दुनिया को नहीं, अपनी आत्मा को ठग रहा है। वह दुनिया को भले भ्रमित कर दे पर स्वयं की आत्मा को परमात्मा से बहुत दूर कर लेगा। प्रभु ने कहा है—ऐसी आत्माएँ सात कर्मों का निरन्तर बंध तो करती ही हैं, पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग में भी वृद्धि करती हैं। अभवी में हिंसा के भाव तिरेहित नहीं होते, ज्ञानी कहते हैं वह साथ वालों का कल्याण कर सकता है। पर स्वयं एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता। इसका कारण यही है कि जब उसके भाव विशुद्ध नहीं, तो फिर दूरी कम कैसे होगी? दूरी का कारण क्या है? कभी सोच लेता है दूरी का कारण कर्म है। पर मात्र कर्म ही कारण नहीं है।

‘कर्म विपाके कारण जोड़ए रे।’ कर्म विपाक जिस समय होता है तक कर्मों के कारण को सामने रखकर होता है और साथ ही कर्मों का उदय भी होता है। कवि की इस सैद्धांतिक परिभाषा का तात्पर्य यह है कि कर्मों से आबद्ध आत्मा कर्मों के प्रति उन्मुख होती है और उदय भाव में बंध भी होता है।

जैसे अनन्तानुबंधी क्रोध का उदय है तो मुख्य रूप से क्रोध का ही बंध होगा, मान, माया, लोभ आदि का मुख्य रूप से बंध नहीं होगा। कवि ने कितना गहरा विवेचन किया है। विपाक के समय भाव हेतु जुड़ा होता है और कमबंध होने से यह दूरी का कारण है। दूरी असह्य है उसे दूर करने की भावना बने पर आज तो व्यक्ति को दूरी पाटने की बात रास नहीं आती उसके पीछे भी कारण हैं। मेघकुमार साधु बन गए पर कर्मों का कुछ ऐसा उदय ही समझिए कि उत्कृष्ट भावों से दीक्षा ली पर रात्रि में ठोकरें लगी तो विचारों में उतार-चढ़ाव आने लगे। विपाक आ गया तो प्रभु के पास रहकर भी दूर चले गए। ठोकर से नींद उचट गई। अरे यह कैसा व्यवहार? मैं राजकुमार था, दीक्षा के पूर्व मेरा कैसा मान-सम्मान था और अब ये ठोकरें! मैं सहन नहीं कर सकता। यह मैंने व्यर्थ ही मुसीबत सिर पर ले ली। पहले मैं आता था तो संत भी कितना ध्यान रखते थे पर आज तो कोई पूछ नहीं! क्या करूँ? अन्य संत ध्यान आदि से निवृत्त हो सो गए, पर मेघमुनि सो नहीं पाये। मानसिक तनावों में मार्ग नहीं ढूँढ़ पाये, हिताहित का बोध नहीं हुआ। इसलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—ज्ञ परिज्ञा से हिताहित का बोध करे, यदि ज्ञ परिज्ञा प्रत्याख्यान परिज्ञा नहीं तो ज्ञान तो हो जायेगा पर बोध रूप व्यापार नहीं होगा। मेघकुमार यद्यपि प्रबुद्ध थे, आत्मा से बोध पाकर ही साधु बने पर अविद्या से हिताहित भूल गये। सोचने लगे—मैं कैद हो गया। पक्षी को पिंजरे में आनंद नहीं मिल सकता, कैसे निकलूँ? पर फिर भी जातिवान, कुलवान कभी जीवन पर बट्टा लगाने की स्थिति में नहीं आवेगा। विचार कर रहे थे। देखा, एक स्थविर अभी बैठे हैं, जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। मेघकुमार ने सोचा—वे बैठे हैं, उनके विचारों में उतार-चढ़ाव होगा, इनसे मिल लूँ? कोई मार्ग मिल जायेगा क्योंकि कहा भी है ‘चोर चोर मौसेरे भाई’। स्थविर के पास पहुँचे, कहने लगे—‘मुनिराज क्या बात है आप पौढ़े नहीं? फिर कुछ असंतोष व्यक्त करते हुए बोले—‘वस्तुतः साधु जीवन में सुख की नींद पड़ी कहाँ है? यह कैसी व्यवस्था है, जहाँ साधकों को ठोकरें लगे।’ मुनि समझ गये कि उनके विचार उचट गए हैं और उचटने में सहयोगी नहीं बनना है।

मुनि ने कहा-‘ऐसी कोई बात नहीं है-मैंने पहले स्वाध्याय, ध्यान किया अब आत्मचिन्तन से निवृत्त हो शयन की तैयारी में ही था।’ मेघ सोचने लगे-गजब हो गया, मैं तो कुछ और सोच रहा था पर मुझे भी तो सहयोगी बनाना पड़ेगा, बात भी रखनी होगी। पुनः कहने लगे, ‘गुरुदेव! मुझ पर अनुग्रह करिये, मेरा मन नहीं लगता, मार्ग बताइये यदि कोई पोशाक मिल जाये तो, मैं अब ऊब गया हूँ।’

महात्मा ने कहा-‘मेघ, प्रभु का सिद्धांत जबरदस्ती का नहीं है, यह अनोखा सिद्धांत है-अहासुहं देवानुप्रिय। पर व्यवस्था यह तो मेरे अधिकार की बात नहीं है, गणधर गौतम ही कुछ कर सकते हैं।’ इस पर मेघकुमार ने कहा-‘मुनिराज यदि मैं वहाँ जाऊँगा तो मुझे संसार की असारता दिखाकर रोक लेंगे, पर मैं रूक नहीं सकता।’ उत्तर मिला-‘वत्स! वे गण के मालिक हैं वे ही व्यवस्था कर सकते हैं, चलो मैं साथ चलता हूँ।’ दोनों पहुँच गये गौतम स्वामी के चरणों में। मेघ तो चुपचाप बैठ गए। मुनिराज ने ही उनका प्रतिनिधित्व किया, सारी बात रखी। गौतम स्वामी ने कहा, ‘इतनी छोटी-सी बात! मैं तुम्हें बांध नहीं सकता, बांधने से तो पशु भी नहीं टिकते। विचार स्वस्थ हो तभी जुड़ा जा सकता है। यदि पोशाक की व्यवस्था चाहते हो वह भी हो सकती है किन्तु मेरा एक सुझाव है, जिस पोशाक में तुमने प्रभु के चरणों में दीक्षा ली है एक बार उसी पोशाक में प्रभु के दर्शन कर लो।’ मेघकुमार ने कहा-‘भत्ते! मैं कुछ बोल नहीं पाऊँगा और यदि मैं रूक गया तो फिर तनाव की स्थिति में न इधर का रहूँगा न उधर का। मेरी आराधना नहीं हो पाएगी। गौतम ने कहा-वत्स! वे वात्सल्यमूर्ति जबरदस्ती नहीं करेंगे। तुमने दीक्षा ली है, एक बार दर्शन तो कर लो। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा। पहले हम सभी प्रतिक्रमण कर लेते हैं उसके बाद चलेंगे।’ प्रतिक्रमण करके मेघमुनि प्रभु चरणों में उपस्थित हुए। प्रभु विराजमान थे। इस स्थिति पर विचार कीजिए-मेघ मुनि प्रभु चरणों में हैं फिर भी दूरी है। क्षेत्र की दृष्टि से या काल की दृष्टि से नहीं, पर भावों की दूरी है। पहले संत कहा करते थे-

आक दूध, गाय दूध अन्तर घनेरो है।.....

प्रभु गो दुग्ध के समान हैं तो मेघ के विचार आक दूध की तरह। प्रभु पूर्णिमा के चंद्र की भाँति प्रकाशमान हैं तो मेघ की भावना अमावस्या के अंधेरे में झूल रही है। पूर्णिमा, अमावस्या एक साथ नहीं हो सकतीं। दोनों मौन हैं। भगवान् अपनी अमृतमयी दृष्टि वर्षा से देख रहे हैं। मेघ अपराधी की भाँति निगाहें नीची किए पैर से जमीन कुरेद रहे हैं। विचारों की घुटन में खोये हुए हैं। प्रभु का शक्ति-संप्रेषण हो रहा है। प्रभु ने कहा-‘मेघ!’ मेघमुनि मानो नींद से उठे हों। तंद्रा टूटी, हाथ जोड़कर, नत मस्तक हुए, ‘भंते!’ प्रभु ने कहा-‘मेघ! प्रतिक्रमण करो, पीछे देखो।’

अपने ही भीतर देखो। मेघ कहने लगे-‘भंते! पीछे देखता हूँ तो नजारा ही कुछ और है। दीक्षा से पूर्व और आज के व्यवहारों की स्मृति से हृदय प्रकीपित होता है।’ आदेश मिला-‘और पीछे देखो।’ ‘मैं देख रहा हूँ। माँ ने कहा था-मेघ, संयम शूरों का पथ है, कायरों का नहीं, तुम सुकुमाल हो। चिंतनीय विषय है। कैसे भाव, उत्साह, उमंग से साधु जीवन अपनाया जाता है पर कभी-कभी वे भाव स्थायी क्यों नहीं रहते? दशवैकालिक सूत्र 8/61 में उल्लेख है-

जाए सद्ग्नाइ निवखंतो, परियायठाणमुत्तमं तमेव अणुपालिञ्जा....।

जिस उल्लास से, श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण किया है, साधु जीवन स्वीकार किया है उसी श्रद्धा से उसका पालन किया जाय। शेर की भाँति लिया है तो शेर की तरह पालन करें। शेर बनने का मतलब प्राणी-वध की तत्परता नहीं पर भीतरी क्रोध, मान, ईर्ष्या, द्वेष काम को समाप्त करना है। भला सियार की क्या सामर्थ्य कि इनसे लोहा ले सके! भीतरी सिंह को नहीं जगाओगे तो क्रोधादि वनचर आत्म-वन का सफाया कर देंगे, आत्म गुणों को नष्ट कर देंगे। शेर बनने के साथ ही भीतर में ओज प्रकट हो, सिंहत्व जाग्रत हो। तभी होगी सुख की उपलब्धि। क्योंकि ‘एगंतसुही मुणी वीयरागी’ वीतरागी मुनि ही एकांत सुखी होते हैं। वह सुख दुनिया में नहीं मिल सकता है। दुनिया में व्यक्ति समस्याग्रस्त हैं यदि साधुजीवन में भी आग लग गई तो फिर बचायेगा कौन? मेघ की बात चल रही थी-प्रभु ने कहा-मेघ, प्रतिक्रमण

करो, पीछे और पीछे देखो। उत्तर मिला-भंते! देख रहा हूँ। माता कहती हैं संयमी जीवन लोहे के चने चबाना है। साधु का भेष तो 15 मिनट का खेल है, मुंडन करवाया, पोशाक बदली और प्रभु ने प्रत्याख्यान करा दिये। पर आराधना, साधना और उपासना जीवनपर्यंत करनी है, अखंडित रहना है। मुनि एकांत सुखी होता है। वहां कोई उलझन नहीं तो फिर दूसरा प्रसंग क्यों बनेगा। और भी आगे बढ़ता हूँ तो देखता हूँ माँ की वात्सल्यभरी गोद! पैर जमीन पर नहीं पड़ते, कितने हाथों में झूल रहा हूँ। कहाँ वह और मैं? कहाँ आ गया? पहले सोचा क्यों नहीं।' पुनः आदेश हुआ-वत्स! घबराओ मत और पीछे देखो।' और प्रभु ने वह दृश्य दिख दिया, दर्पण में नहीं, क्षमोपशम से जातिस्मरण ज्ञानरूप आदर्श में देख रहे हैं। अरे यह क्या? हाथी के भव में योजन का माण्डला, आग से बचने के लिए सुरक्षित किया गया। आग लगी तो सभी भागे। मण्डल बनचरों से भर गया, जैसे-तैसे मैंने भी स्थान प्राप्त कर लिया। खुजलाने की दृष्टि से पैर उठाया तो एक सुसला रिक्त स्थान में पहुंच गया। ज्ञात होते ही मैंने पैर ऊपर रख लिया। ढाई दिन/20 पहर में आग बुझी तो बनचर चले गये, मैंने पैर नीचे रखना चाहा पर यह क्या? पैर अकड़ गया, मैं धड़ाम से गिर पड़ा। फिर प्रश्न हुआ-मेघ! जिस आग से बचने का प्रयत्न किया वह द्रव्य आग थी, पर भाव आग से बचने के लिए तुमने क्या किया?

मेघ कुंवर हाथी रा भव में, करुणा करी श्री जिनजी बताई॥

प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व री, अनुकम्पा की समकित पाई॥

अनुकम्पा सावज मत जाणो। अनुकम्पा विचार १/१

पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए

सिर्फ सुसले की ही नहीं, प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की रक्षा की। बीते काल में कितने अंधकार में थे पर तुमने कितना उपकार किया। उपकार दूसरों पर नहीं किन्तु अपनी आत्मा पर किया। अनादि काल से अविद्या और अज्ञान में थे और अब सम्यक्त्व की वह किरण प्राप्त कर ली जिसमें अपना मार्ग देख सको। मेघमुनि बोले-भगवन्! मैं सब कुछ जान गया हूँ। अब अविद्या का साया नहीं रहा। मेरे विचारों

के कालुष्य ने साधुत्व को समाप्त कर दिया था। प्रभो, मुझे पुनः दीक्षित करो। रात भर मैं आर्त भाव में रहा। भाव से साधुत्व नहीं रहा सिर्फ पोशाक से ही रहा। प्रतिज्ञा का भान नहीं रहा। अब मुझे सत्कार, प्रतिष्ठा, पद आदि की कामना नहीं। यह सब मैं संत-चरणों में समर्पित करता हूँ। ‘मम दो अच्छीणि मोत्तूणं अवसेसेकाए समणाणं णिगंथाणं णिसट्ठे....।’ संयम रक्षा के लिए मात्र दो नेत्रों की रक्षा करूँगा, शेष सारा शरीर मुनि भगवन्तों की सेवा में जीवनपर्यन्त समर्पित है।’

प्रभु ने पुनः 5 महाब्रत में आरोहण कराया, समिति गुप्ति में उपस्थित किया। भाव बोध के द्वारा अविद्या से उपरत हुए।

कवि ने पूछा है—दूरी कैसे हटे? यदि दूरी हटानी है तो वास्तव में कोई दूरी नहीं है पर यदि कोई आँख मूँदकर ही सो जाये तो बंद कमरे में सूर्य-दर्शन कैसे होगा? सूर्य की रश्मियों को पाने के लिए बाहर आना होगा। मेघमुनि ज्योंही चरणों में पहुँचे, भाव बोध प्राप्त हुआ और दूरी हट गई। भगवान से संबंध जुड़ गया। समर्पित हो गए। अब कोई पूछे—मेघ! कहो संयम का कैसा आनंद है? तो उत्तर मिलेगा वह अनुभूति तो गँगे के गुड़ की तरह बयान नहीं की जा सकती। मुझे दिव्य नेत्र मिल गए, भीतर आनंद हिलोरें ले रहा है, रोम-रोम पुलकित है। आनंद के परमाणु मुझमें समाविष्ट हो गए हैं। आत्मा के समक्ष अब कोई उलझन नहीं, समाधान मिल गया है। पर समाधान के लिए पहले दिल को समाहित करना होता है, फिर मस्तिष्क समाहित होता है। दिलों में समाधान है तो मस्तिष्क स्वयमेव साफ हो जायेगा। मेघ जब तक बातों में उलझे रहे, उलझनें बनी रहीं, विवेक नहीं कर पाये। पर दिल में दूरी नहीं थी, भगवान के चरणों में दिल था इसलिये मस्तिष्क भी आखिर स्थिर हो गया और इस उपाय से दूरी दूर हो गई, प्रभु के नजदीक पहुँच गये।

-भाद्रपद कृष्णा 1

29-8-96

4

जयं चरे

पद्मप्रभ जिन तुज मुज आंतक रे, किम भांजे भगवंत?
कर्म विपाके कारण जोईने रे, कोई कहे मतिमंत॥

आत्मा और परमात्मा के बीच जो दूरी है उसका हेतु/कारण कर्म विपाक है और कर्म विपाक से जो कर्म बंधन के हेतु बनते हैं उन्हें बंध का और दूरी का कारण बताया गया है। कर्म-बंध क्रिया से होता है। कहा भी गया है—‘या या क्रिया सा सा फलवती।’ यह क्रिया मन से, वचन से और काया से होती है। चलना, फिरना, बोलना, बैठना, ये सब क्रियाएँ हैं। जो भी क्रिया होगी उसमें शुभाशुभ आश्रव का संयोग होगा। शुभाशुभ आश्रव से जो आदान होगा वह आत्मा से संयुक्त होगा। शुभाशुभ आश्रव से जो आदान होगा वह आत्मा से संयुक्त होगा—और कार्मण-वर्गणा रूप पुद्गलों का आत्मा से संयुक्त होना ही कर्म की संज्ञा प्राप्त करता है। अबाधाकाल बीतने पर ये कर्म उदय में आते हैं। विपाक (फल), फिर क्रियाएँ और बंध, यह क्रम अनवरत चला आ रहा है। एक समय भी ऐसा नहीं होता जिसमें मन, वचन या काया की क्रिया नहीं हो रही हो। व्यक्ति विचार करता है, क्रिया रूकती नहीं, कर्म-बंध चलता रहता है तो फिर मुक्ति का उपाय ही नहीं है। गुरु से ऐसा उपदेश सुन कर एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रकट कर दी—‘भंते! क्या चलना-फिरना बंद कर दें, एक जगह बैठ जायें? भगवान ने कहा—

अजयं चरमाणो य, पाण भूयाइं हिंसइ।’-दशवै ४/१
बंधइ पावयं कम्म, तं से होइ कडुयं फलं-दशवै ४/१

अर्थात् अयतना से चलता हुआ प्राण-भूतादि की हिंसा करता है वह पाप कर्मों का बंध करता है, जिसका कटुक विपाक होता है। 'भगवन! कहं चरे....फिर कैसे चलें?' गुरु ने उत्तर दिया-'जयं चरे।' अर्थात् यतना पूर्वक चलो। पर यतना कैसे की जाय, उसके तौर-तरीके क्या हैं? इसके उत्तर से ही उस प्रश्न का उत्तर भी मिलता है कि दूरी कैसे दूर हो? दूरी किन कारणों से है? दूरी जिन कारणों से है उनमें चलना भी एक कारण है। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि चलकर तो दूरी तय की जाती है। चलने से यदि दूरी बढ़ती हो तो फिर दूरी तो दूर होनी ही नहीं है। दो व्यक्ति मकान के दो छोरों पर हैं, मिलना चाहते हैं पर दोनों सोच लें कि हमें चलना नहीं है, तो क्या मिल पायेंगे? विचार करें कि दूरी चलने पर मिटेगी या क्रिया रोकने पर? 13वाँ गुणस्थान है सयोगी केवली और 14वाँ गुणस्थान है अयोगी केवली। सिद्धत्व प्राप्ति से पहले 14वें गुणस्थान में जाना जरूरी है। योग प्रवृत्ति के विराम बिना सिद्धत्व नहीं हो सकता। अयोग अवस्था में योग प्रवृत्ति का अभाव हो जायेगा फिर तो मात्र 5 हस्त अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण जितने समय में संपूर्ण कर्म विलय से निरंजन निराकार अवस्था लब्ध हो जायेगी। पर होगी कब? जब क्रिया रूक जाये, कर्म के हेतु और कर्म-बंध रूक जाये। भेद कल्पना मिट गई। शिष्य के प्रश्न 'कहं चरे' में प्रभु ने कहा 'जयं चरे' यहाँ प्रवृत्ति है, निषेध नहीं है और इतने-से सूत्र में बहुत कुछ समाविष्ट भी हो गया है। साधक को आवश्यक होने पर ही चलना है, अनावश्यक नहीं और चलना पड़े तब भी ईर्यासमिति की विधि से ही गमन करे। उत्तराध्ययन सूत्र 24/8 में उस विधि का निरूपण किया गया है-

इंदियत्थे विवज्जिता, सज्जायं येव पंचहा।
तम्पुत्ती तप्पुक्कारे, उवउत्तेरियं रिए॥

अर्थात् इन्द्रिय अर्थों का वर्जन करता हुआ। इन्द्रियाँ पाँच कही गई हैं और अर्थ याने उनका विषय जैसे श्रोत का विषय सुनना, चक्षु का विषय देखना, घ्राण का विषय सूँघना आदि इन विषयों से अपने-आप

को अलग हटाकर चलना। चलते-चलते मधुर गायन सुनने में लग जाएँ तो क्रियाएँ तो दो हो जायेंगी पर उपयोग एक में ही रहेगा। चल लेंगे पर ईर्या शोधन नहीं कर पायेंगे। इसके साथ ही पाँच प्रकार की स्वाध्याय, वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा को भी चलते समय त्याग दें। कभी-कभी कुछ लोग कहते हैं कि प्रभु ने योग-साधना और ध्यान-साधना का स्वरूप नहीं बताया। पर देखिए इसी गाथा में आगे कहा है-तम्मुती-तन्मूर्ति (एकमेक) और तप्पुरक्वकरे अर्थात् उसी कार्य को प्रधानता दें। यह तन्मयता ही योग-साधना है, ध्यान की एकाकारता है। किसी को आशंका होती है कि जैन सिद्धांत सिर्फ धर्म की बात करता है। यह मत करो, वह मत करो, विधेय रूप में क्या स्वीकार किया जाय, उसका दिग्दर्शन इस धर्म में नहीं है। वस्तुतः यह बात यर्थाथ नहीं है। जैन सिद्धांतों में विधेय रूप में भी बहुत-कुछ उपलब्ध है-‘जयं चरे’ यह विधेयात्मक वाक्य ही है और यदि देखा जाय तो निषेध भी एक प्रकार से विधेय को ही उजागर करता है। सड़क में वाहनों के चलने के लिए निर्देश होता है कि बायीं ओर चलें, इससे दाहिनी ओर चलने का निषेध हो जाता है और यदि दायें का निषेध करें तो बायें का विधान अपने आप हो जायेगा। यह तो वाहन के लिए हुआ और पैदल चलने वाले को दाहिनी ओर अर्थात् राइट साइड चलना चाहिए। एक प्रकार से यह तथ्य भी इस महत्वपूर्ण तथ्य को ही उजागर कर रहा है कि पैदल चलने वाला राइट (सही) चलता है, वह ईर्यासमिति पूर्वक चलता है। वाहन चालक भी सुरक्षा हेतु गढ़दे, पत्थर आदि से बचकर तो चलता है पर उसकी तेज रफ्तार में छोटे प्रणियों की सुरक्षा कहाँ संभव है? खैर, मैं कह रहा था-चलने की क्रिया में ‘तन्मयता’ और ‘तत्प्रधानता’-कितने गहन शब्द हैं। इसी के साथ ही कहा है कि उपयोग पूर्वक चले। ‘जयं चरे’ की परिभाषा को ही स्पष्ट करने के लिए कहा गया है-

दवदवस्स नगच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे॥

हसन्तो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया॥

अर्थात्-दबदब करता हुआ न चले, बात करता हुआ, हंसता हुआ न चले। यह सभ्यता की दृष्टि से भी उचित नहीं है क्योंकि इन स्थितियों में ईर्या का पालन नहीं हो सकेगा। चलने की क्रिया दुर्योधन ने भी की थी। महल का भाग ही ऐसा था कि पानी नहीं होने पर पानी का आभास होने से उसने धोती ऊँची कर ली थी और जिस भाग में पानी था वहाँ ज्ञान नहीं हो पाया, उसने धोती ऊँची नहीं की, यद्यपि वैसा ज्ञात नहीं होने से हुआ था। आज भी इस प्रकार के चमकदार पत्थर होते हैं कि यदि उन पर पानी गिरा हो तो सहसा नजर नहीं आता। अस्तु, दुर्योधन की इस क्रिया पर दौपही को हँसी आ गई थी और हँसी के साथ ही उसने कुछ शब्द भी उच्चरित कर दिये। यह था चलने की असावधानी का परिणाम।

शेरशाह सूरी बादशाह का पुत्र था जिसे बादशाह ने युवराज पद दे दिया था। एक दिन युवराज की सवारी निकली अर्थात् वह भी गमन क्रिया कर रहा था, चलने में ध्यान नहीं था। वह इधर-उधर नजर डालता चल रहा था। मार्ग में एक पान की दुकान आई। वह मोदी की दुकान थी। मोदी की एक सुंदर कन्या दुकान पर खड़ी थी। उस रूपसी पर युवराज की निगाहें टिकीं और युवराज ने पानदानी से दो बीड़े उठाकर उस कन्या पर फेंक दिये। कन्या कुछ समझ नहीं पाई, सकुचा गई। मोदी इस हरकत को देखकर दुःखी हुआ। सोचने लगा—मैं क्या करूँ? ये युवराज हैं, मैं इनका कुछ बिगाढ़ नहीं सकता पर हाँ, मैं बादशाह सलामत से न्याय की अपील कर सकता हूँ। उसकी अपील पर बादशाह ने सुनवाई की। एक दिन भरे दरबार में राजकुमार को कटघरे में खड़ा किया गया। राजकुमार नीची निगाहें किए खड़ा था, मुँह उठाने का साहस भी नहीं रहा था। इतने में बादशाह की गंभीर गर्जना गूँजी—‘हमारे पास एक फरियाद आई है, तुमने मोदी कन्या पर पान के बीड़े फेंके हैं।’ युवराज ने कहा—‘अब्बा जान, पर मैंने किसी बुरी भावना से नहीं फेंके थे।’ इतना सुनते ही बादशाह गरजा—‘बुरी निगाह से नहीं फेंके, किसी की बहन-बेटी पर इस प्रकार बीड़े फेंकना क्या उचित है? बुलाओ अपनी

बेगम को।' बेगम को बुलाया गया। उस जमाने में रानियाँ मुँह ढंके रहती थीं। कोई उनका मुँह नहीं देख सकता था। बादशाह ने कहा-'तुम बेगम का बुरका हटाओ।' मुँह उद्घाटित करना एक प्रकार से उसका तिरस्कार था। राजकुमार ने बुरका उठाया। बादशाह ने मोदी को दो बीड़े देकर कहा-'इन्हें बेगम के मुँह पर फेंक दो।' मोदी ने बीड़े हाथ में लिए! विचार चलने लगे मैं युवराजी पर बीड़े फेंकूँ, नहीं नहीं! उसका विवेक काम कर गया, उसने वे बीड़े उसके चरणों पर रख दिए और विनप्रतापूर्वक कहा-'बादशाह सलामत, मैं जानता हूँ कि आप पूरे राज्य की बहन-बेटी को अपनी बहन-बेटी समझते हैं, उनकी इज्जत-आबरू का खयाल रखते हैं। मैं तो सिर्फ युवराज के अपराध को दंडित करने की भावना से आया हूँ पर यहाँ स्वयं अपराध करने के लिए नहीं। यदि मैंने भी युवराजी पर बीड़े फेंके तो मैं स्वयं अपराधी साबित हो जाऊँगा।'

बादशाह तख्त से उठे और मोदी को गले लगा लिया। ऐसे प्रसंग पर विले व्यक्तियों में ही विवेक जग पाता है। इसलिए भगवान ने 'जयं चरे' कहा। इन्द्रियों के विषय में ध्यान नहीं देते हुए गमन क्रिया में ही ध्यान रहे तो दुर्घटना टल सकती है। मूल बात यह है कि यदि युवराज सिर्फ चलने में उपयोग रखता तो वैसा घटनाक्रम ही नहीं बनता।

ललितांगकुमार ने आख्यान पर भी दृष्टिपात उपयुक्त होगा। ललितांग कुमार घोड़े पर दौड़ लगा रहा था। इधर-उधर फिसलती हुई निगाहें अनायास महारानी पर जा टिकीं। मोहपाश में आबद्ध होकर महारानी के पास खिंचा चला गया। इधर राजा के आने की खबर पाते ही महारानी ने उसे पाखाने में डोरी से लटका दिया। उधर राजा पहुँच गये और थोड़ी देर में हाजत होने पर जब वे मल-मूत्र विसर्जन के लिए पाखाने में गये तो ललितांग उनके मलमूत्र से लथपथ हो गया। एक इन्द्रिय के आकर्षण ने यह दशा बना दी। मल-मूत्र ही उसके भोजन-पानी का आधार हो गया। इस दशा को संसार के रूपक से जोड़ा गया है कि माता की कुक्षि में गर्भस्थ शिशु लटका रहता है। माता के मल-मूत्र उसके ऊपर से जाते रहते हैं। उस काल कोठरी में वह लंबे समय तक

तड़फता रहता है पर बाहर आते ही सब-कुछ भूल जाता है और मूँछों पर ताव देकर इतराता है। उससे पूछा जाना चाहिये कि उस वक्त तेरी मूँछें कहाँ चली गई थीं? अब बातें बना रहा है!

उठ जाग रे चेतन, निंदिया उड़ा ले मोह राग की.....।

यह मोह कहाँ से पैदा हुआ? इन्द्रिय विषयों से लगाव जुड़ने पर हमारे भीतर मोहभाव-रूप संतान पैदा होती है। वह पदार्थ से आकर्षित होती है और उस मोह का पुट धीरे-धीरे अपना नशा दिखाता है। शराब पीते समय तो नशा नहीं आता पर पीने के बाद जब व्यक्ति लहरें लेने लगता है तब मालूम होता है कि उसका क्या दुष्प्रभाव होता है। मोह की मादकता भी सम्मोहित करती है। व्यक्ति भान भूल जाता है। इसीलिए प्रभु ने कहा है—‘चलने की एक क्रिया द्वारा भी बंध हो जाता है, भगवान से दूरी बढ़ जाती है अतः यदि तुमने संसार से ऊपर उठने हेतु कमर कस ली है, तो सजग बन जाओ।’ व्यक्ति तर्क करता है—पूरी सड़क पर जीव बिछे हैं—क्या फर्क पड़ता है? कैसे भी चलें। पर भाई, जीव बिछे हैं या नहीं, इससे फर्क नहीं पड़ता पर इतनी-सी भावना से तुम्हारे भीतर फर्क पड़ जायेगा। जीव मरे या नहीं पर तुम्हारी आत्मा का तो मरण हो ही जायेगा और वह हिंसा सामान्य नहीं होगी। जब मन में यह भाव होता है कि क्या फरक पड़ता है और इस प्रकार प्रमाद किया जाता है तब आत्मा की हिंसा तो हो ही जाती है—आत्मा की मृत्यु हो जाती है। यदि विवेक रखकर यतना पूर्वक चलें तो उस स्थिति में किसी प्राणी का बंध नहीं होगा। यदि देखकर यतनापूर्वक नहीं चल रहे हैं तो चाहे हिंसा नहीं भी हुई जीव की विराधना नहीं भी हुई, फिर भी प्रमाद के कारण कर्म-बंध, पाप कर्म का बंध होगा। आप कहेंगे यह तो उल्टी बात हो गयी। बात उल्टी नहीं सीधी है—यतना में सजग अवस्था है और अयतना में जड़ता है। जड़ता में जीने वाले में ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ की भावना नहीं रहती अतः यह क्रिया भावरूप-हिंसा होकर पाप कर्म का बंध कराने वाली हो जाती है। चलने की क्रिया एक है परन्तु यतनापूर्वक वह

नहीं करने से हमें परमात्मा से दूर कर देती है। चलने की क्रिया से ही साधक परमात्मा से दूर हो जाता है और उसी से पास भी हो सकता है। यदि व्यक्ति सावधानी बरते, वह साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका कोई भी हो, तो परमात्मा से दूरी समाप्त कर सकता है। बहनों को घर में अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। वे रसोई बनाती हैं, उन्हें आग भी जलानी पड़ती है अतः आग जलाने से पहले वे चूल्हे की पलेवणा सम्यग् प्रकार से निरीक्षण कर लें, जहाँ बर्तन आदि रखे हैं, वहाँ पर देख लें। आजकल तो गैस है, जीव कहाँ होंगे? किन्तु गैस के चूल्हे को भी प्रातःकाल खोलकर देखें तो ज्ञात होगा कि छिद्रों में कसारी आदि कितने ही जीव प्रविष्ट हो जाते हैं। बिना देखे जलाने पर उन जीवों का क्या दशा बनती होगी, समझने की बात है। एक बार संत गोचरी में आचार ले आये। उसे लाकर देखा गया तो उसमें सफेद लटें निकलीं। कभी-कभी चावल में भी ऐसा प्रसंग आता है। चावल में दूध या पानी डालकर देखा जा सकता है। कभी-कभी इलिया-शुली, जो कई दिनों की हो जाती है, उसमें भी लटें निकल आती हैं। हम साधक हैं, गांव-गांव घूमते हैं, कई बार भोजन का प्रतिलेखन करते हुए इस बात की अनुभूति होती है कि खाद्य सामग्री में त्रस-जीवों के मृत कलेवर होते हैं। साधु गृहस्थों के घरों से आहार ग्रहण करते समय तो ध्यान रखें ही फिर स्थान पर आकर भी उसकी पलेवणा करें। एक बार खीर आयी, उसमें कुछ काला-काला दीखा। किसी ने कहा इलायची है, परन्तु जब गौर से देखा गया तो लाल चींटियाँ दिखाई दीं।

अब सोचें कि उस थोड़ी-सी खीर में इतनी-सारी चींटियों के कलेवर क्या दर्शाते हैं? अयतना, अविवेक। इसीलिए आहार चौड़े पात्र में करें ताकि कभी कम रोशनी भी हो तो भी वह साफ-साफ नजर आ जाय। आज बहनें जल्दी-जल्दी में काम करती हैं। विवेक का उपयोग कम रहता है, यतना नहीं रह पाती है जो रहनी चाहिये क्योंकि यतना करने से वर्तमान जीवन की सुरक्षा होती है। यदि यतनापूर्वक चल रहे हैं तो ऊबड़-खाबड़, कंकरीले-पथरीले, कंटकाकीर्ण मार्ग पर, यदि कोई

खड़े या पत्थर आदि आयेंगे तो उनसे बचेंगे और ठोकर भी नहीं खायेंगे। इस प्रकार कठिन मार्ग पर भी हम सुरक्षित रह सकते हैं बशर्ते कि हमने चलने की विधि सीख ली हो।

गुरु शिष्य से कहते हैं—जयं चरो। कवि भी संकेत कर रहा है कि इस क्रिया से तुम परमात्मा के सन्निकट पहुँच जाओगे। विपाक में कर्म-बंध होता है पर यदि सही क्रिया अपना ली गई तो बंध रुक जायेगा और कर्मों की श्रृंखला टूट जायेगी। संत जब चलकर आते हैं तो सुख-साता की पृच्छा की जाती है अर्थात् चलने से आपकी आत्मा की साता में तो बाधा नहीं पहुँची और यदि उस परीषह पर विजय प्राप्त हो गई, चलने की सही विधि अपना ली गई तो आत्मा सुख-शार्ति की सच्ची अधिकारिणी बन जायेगी।

—भाद्रपद कृष्णा 2

30-8-96

5

विशुद्धि के लिये कायोत्पर्ग

**पत्त्रभ जिन तुज मुज आंतक रे, किम भांजे भगवंत्?
कर्म विपाके कारण जाईने रे, कोई कहे मतिमंत।**

क्रिया जीवन का सहज व्यवहार है परन्तु उसके सम्यक् रूप के प्रति लोग सजग नहीं होते। परिणामस्वरूप क्रियाएँ बंध का कारण बन जाती हैं। ऐसी ही एक क्रिया खड़ा रहना भी है जिससे संबंधित जिज्ञासा उत्पन्न होने पर शिष्य ने गुरु के समक्ष निवेदन किया-कहं चिट्ठे। भगवन् ! कैसे खड़े रहें ? भवगवान् महावीर ने उत्तर दिया- जयं चिट्ठे। प्रभु ने जिस छोटे से सूत्र का उच्चारण किया, उस सूत्र के विषय के साथ उनकी गहन अनुभूति जुड़ी हुई थी और उस अनुभूति के धरातल पर उतना उत्तर देना ही उन्होंने पर्याप्त समझा। उनके सामने जो समाधान लेने वाले थे वे भी प्रखर प्रतिभा के धनी थे। इतना-सा प्रतिबोध पाकर अपनी प्रखर प्रतिभा से बहुत-कुछ हासिल कर सकते थे। हम ध्यान रखें कि तीर्थकर की देशना, आगमवाणी, केवल संकेत मात्र करती है, सिर्फ टच (स्पर्श) करती है और उस संकेत को पकड़कर उस दिशा में मार्ग बनाना होता है। तीर्थकर भी शिष्य को संकेत करते हैं। यदि वे ही साधक को सारा मार्ग बता दें तो साधक क्या करेगा? फिर उसका पौरुष कैसे जायेगा? यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। आप अपने बच्चे को जिंदगी-भर सिखाते ही नहीं रहते अपितु योग्य होने पर उसे दुकान का भार भी सौंपते हैं और अवसर आने पर उसे पैरों पर खड़ा करने हेतु उसे स्वतंत्र दुकान भी करवा देते हैं। इसी प्रकार प्रभु साधक को संकेत देते हैं ताकि

वह स्वयं के पुरुषार्थ को सक्रिय कर पानी की तरह आगे बढ़ता चला जाए और जिस प्रकार पानी ढाल पाकर मार्ग स्वयं बनाता है और आगे बढ़ता जाता है। उसी प्रकार वे भी उस संकेत के वेग से अपना मार्ग बना लें।

जरा सोचें, नहरें तो सरकार ने बनाई हैं पर नदी का बहाव किस सरकार ने बनाया है? पानी ने अपना मार्ग सहज ही नहीं बनाया है, मार्गवर्ती चट्टानों को काटकर उसका वेग आगे बढ़ा है। चटानों को घेरे में लेकर पानी उनमें भी प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार तीर्थकर भी साधकों को संकेत करते हैं। वैज्ञानिकों और जासूसों को छोटा-सा सुराग मिल जाय, छोटी-सी बात मिल जाय, तो फिर उसके आधार पर वे तह तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। साधक को भी खोजी कहा गया है, वह संकेत पर गति करे। भगवान ने ‘जयं चिट्ठे’ संकेत किया, इससे हम क्या समझें? यतना से खड़े रहें इसके साथ ही एक बात ध्वनित होती है कि क्या खड़े रहना भी साधना है? यदि खड़े रहना साधना नहीं होती तो भगवान कह देते-खड़े रहने की बात क्यों पूछ रहे हो? अनावश्यक तथ्यों के लिए प्रभु निर्देश नहीं करते क्योंकि अनावश्यक खड़े रहना प्रमाद होता और प्रभु ने कहा है कि ‘समयं गोयम मा पमायए’-समय मात्र का प्रमाद मत करो। दीर्घ तपस्वी शासन प्रभावक श्रद्धेय ईश्वरचंद्रजी म.सा. ने नियम बना रखा था कि लगभग आधे घंटे नहीं बैठना, उस समय घूमना हो सकता है, किन्तु बैठना या सोना नहीं। शास्त्रकारों ने कहा है-उद्धृण्डं ठाणं ठाएञ्ज्जा’ अर्थात् अपने-आप को ऊर्ध्व स्थिति में स्थापित करो। ऊर्ध्व स्थिति भावों की भी हो सकती है कि भावों को ऊर्ध्वर्गामी बनाया जाये, पर जिस प्रसंग में बात कही गई है वहाँ इसका तात्पर्य है-‘खड़ा रहें।’ साधक आतापना भूमि में आतापना लेता है तो खड़े रहने की स्थिति होती है। दो प्रकार से आतापना ली जाती हैं (1) हाथ ऊपर की ओर उठाकर (2) बाँहें नीची झुका कर एक पैर पर स्थित रहकर। यदि यह न हो सके तो दोनों पैरों पर भी खड़ा रहा जा सकता है, पर खड़े रहने में भी अंतर होता है। सामान्यतः जिस प्रकार आप और हम खड़े रहते हैं, वैसा खड़ा रहना वहाँ नहीं बताया गया है। प्रभु महावीर ने जो तरीका बताया है उसे समझें। कायोत्सर्ग में किस

प्रकार खड़े रहा जाय? दोनों एड़ियों के बीच चार अंगुल का अंतर रहे और दोनों पंजों का फासला आठ अंगुल का रहे। इसमें एक महत्वपूर्ण बात और भी है जिसे समझ लेना आवश्यक है। व्यक्ति प्रायः खड़े रहते समय अपने शरीर का सारा भार एड़ियों पर डाल देता है। पर यह गलत है, इस प्रकार खड़े रहने से मानसिक तनाव शांत नहीं होंगे, चित्त में चंचलता आयेगी। एड़ियों से एकनस, जो मस्तिष्क तक पहुँचती है, जब उस पर दबाव पहुँचता है तो संदेश मस्तिष्क तक नहीं पहुँच पाते, अवरोध उत्पन्न होता है। एड़ियाँ जमीन से ऊपर उठकर नहीं रखना है पर इस प्रकार रखें कि हमें आभास हो कि एड़ियों पर कोई वजन नहीं है, वे बिल्कुल सहज एवं भारहीन हैं। हाथों को रखने की भी विधि है। हाथ नीचे झूलते हुए रहें। हथेलियाँ पूरी सीधी तरी हुई नहीं बल्कि कुछ मुझी हुई रहें। अंगुलियाँ अँगूठे से मिली रहें और हाथों को तनावरहित ढीला छोड़ दें। दृष्टि सामने की ओर रहे। यह खड़े रहने की विधि हुई। व्यक्ति भिन्न-भिन्न मुद्राओं में भी खड़ा होता है। धनुष तानने की, भाला लेने की या तलवार उठाने की अलग-अलग मुद्राएँ हो सकती हैं किन्तु साधक को ध्यान-मुद्रा में खड़े होना चाहिए। अन्य क्रियाएँ वर्जनीय हैं क्योंकि तदनुरूप भाव बनते हैं और यदि व्यक्ति ने पूर्व में इन शस्त्रों का प्रयोग कर रखा है तो उसके भीतर हिंसात्मक भाव जाग सकते हैं। आप कहेंगे-प्रभु ने हममें ऐसी कौन-सी कमजोरी देखी जो इस प्रकार का कथन किया? लेकिन आप स्वयं भी तो अनुभव करते हैं कि हमारा मन एक क्षण कहीं तो दूसरे क्षण कहीं और विचलित होता रहता है। प्रभु इन भावों के ज्ञाता थे कि साधक न मालूम किस क्षण फिसल जाये क्योंकि चरम शरीरी भी फिसल जाते हैं। इस फिसलन को रोकने के लिए भीतरी पुरुषार्थ को सक्रिय करना होगा। प्रभु ने भावोत्थान के लिए एक सूत्र और दिया है-

उद्विग्ने नो पमायए (आचारांग सूत्र 1/5/2) साधक उठ जाओ, प्रमाद मत करो। यदि बैठे रहे तो आलस्य, प्रमाद बढ़ेगा, ऊँघने लगेंगे। पाठशाला में भी होमवर्क पूरा नहीं हो या कोई अपराध हो जाय तो शिक्षक कहता है- ‘स्टेण्ड अप अर्थात् खड़े हो जाओ।’ प्रभु भी कह रहे

हैं-तुमने पाठ याद नहीं किया है। पाठ याद करने के लिए ही कायोत्सर्ग का विधान है। कायोत्सर्ग से प्रतिज्ञा ली जाती है-विसोहणथं करेमि काउस्सगं-विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। प्रभु ने कहा-खड़े हो जाओ, भावों से भी उठो, प्रमाद मत करो। खड़े रहोगे, नींद नहीं आ पायेगी। विधि से खड़े रहने पर भीतर भी परिणमन होता है। हमने सूत्र तो पढ़े पर ‘उगारी’ नहीं की। उसे ढालने में तत्परता नहीं बन पाई। आज सबके पास एक ही जबाब है-समय नहीं। श्रावक हो या साधु हो, दो दिन रूकने का आग्रह करते हैं तो महाराज कहते हैं- ‘जल्दी जाना है, समय नहीं है।’ समय कहाँ से आयेगा? कोई तो नहीं कहता कि मेरे पास समय है। पर समय बरबाद कितना किया जाता है और सार्थक कितना, यह निजी चिन्तन का विषय है। प्रभु ने यतना से खड़े रहने के लिए एक सूत्र यह भी दिया-

एगे एगित्थिए सद्धिंः नेव चिद्वे न संलवे।

साधु अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे, न बात करे। यदि कोई कहे-क्या फर्क पड़ता है हम तो साधु हैं। प्रथम बात तो उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि वर्षों तक एकान्त गिरि कन्द्राओं में ध्यानमग्न साधक रथनेमि भी राजमती के क्षणिक दर्शन मात्र से विचलित हो गये थे। यह बात जुदा है कि वीरांगना सती-साध्वी राजमती ने कठोर वचनों से फटकार लगाते हुए रथनेमि को पुनः संयम भावना में स्थिर कर दिया।

दूसरी अहं बात यह है कि इन मर्यादाओं, वर्जनाओं का पालन साधु को ही करना है, सिद्धों को नहीं। आगम मर्यादाओं के तट-बंध में संयमी जीवन जीने वाला ही ब्रह्मचर्य की कठोर साधना कर सकता है। मर्यादाएँ इसलिए बनाई गई हैं कि-अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरझत्तए (आचारांग सूत्र 1/3/2) अर्थात् यह मनुष्य अनेक चित्त वाला है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। यद्यपि इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास छलनी को जल से भरने के सदृश है, फिर भी मनुष्य कामनाओं की अन्धी दौड़ में निरन्तर भागा जा रहा है। तीर्थकर महाप्रभु ने साधक के सर्वमंगल एवं कल्याण के लिए मर्यादाओं की स्थापना की। प्रभु ने तो कहा है कि स्त्री वृद्धा भी है तो भी एकान्त

में तो क्या महापथ पर भी उसके साथ खड़े रहना नहीं कल्पता। इसके पीछे भी कारण है। व्यक्ति की निगाहें इस तरह के दृश्य से अपवाद फैला सकती हैं और भ्रामक स्थिति बना सकती हैं। भ्रांति कैसे फैलती है, इसका एक उदाहरण है। एक बहिन अपने पति को भोजन करा रही थी। दोनों में बहुत ही सौहार्द था। कहीं क्लेश-संघर्ष का नाम नहीं था। भोजन कराते हुए अचानक बहिन की आँखों में पानी आ गया। उसने आँखें पोंछने को पल्लू उठाया। इधर पड़ोसन ने दरवाजा खोला। बहिन को आँख पोंछते देख बाहर से लौट गई। दरवाजा खोलते ही सामने ही रसोई थी। पड़ोसन ने दरवाजा बंद किया। अब उसे विचार आया, जरूर आज पति-पत्नी में अनबन हुई है। तभी वह रो रही है। बात पेट में पची नहीं। पहुँची दूसरी पड़ोसन के घर और मनगढ़न्त सुना दिया—‘आज कमला व उसके पति में लड़ाई हो गई, बेचारी रो रही थीं।’ पड़ोसन ने कहा—‘पर ऐसा नहीं हो सकता, उनमें तो बहुत प्रेम है।’ ‘अरी तू क्या जाने मैंने आँखों से देखा है।’ अब क्या था, बात बिजली की गति से फैलती गई। पूरे गाँव में चर्चा का विषय बन गयी। कमला की प्रिय सहेली ने भी सुना। उसने सोचा—बात क्या है, जानकारी करनी चाहिए। पहुँची कमला के पास और पूछा—कमला आज क्या हुआ? कमला ने कहा मुझे तो जानकारी नहीं कि क्या हुआ? सहेली ने कहा—लो, सारे गाँव में चर्चा है, तुम्हें मालूम नहीं? कमला ने कहा—सच कहती हूँ मैं कुछ नहीं जानती, तुम्हें मालूम है, तुम्हीं बता दो। सहेली ने बता दिया—अरे! तुम्हारे नाम की पूरे गाँव में चर्चा हो रही है। वस्तुतः ऐसी बातें, जिनके न सिर होता है न पैर पर वे फैलती चली जाती हैं और लोग विश्वास भी कर लेते हैं। पूज्य गुरुदेव कहा करते हैं—‘बारह हाथ की काकड़ी तेरह हाथ का बीज’। लोग यह नहीं सोचते कि ककड़ी बारह हाथ की है तो बीज तेरह हाथ का कैसे होगा? कमला की सखी ने कहा—‘आज तुम्हारे और बहनोईजी के बीच झगड़ा हुआ था?’ कमला ने कहा—‘नहीं तो।’ ‘तो फिर वह पड़ोसन तो प्रत्यक्षदृष्टा है। बहुत अच्छी बात है।’ पड़ोसन से जब पूछा गया—बताओ कब देखा? तब उसने स्थिति स्पष्ट कर दी—अरे आज तुम्हारे पतिदेव भोजन कर रहे थे तब तुम रो रही थीं। झगड़ा हुए बगैर रोना क्यों आयेगा? अब कमला को समझ में

आया। उसने कहा- ‘पहले पूछ तो लेना था कि उस समय में आँख में पानी आने का क्या कारण था? मेरे पतिदेव प्याज के शौकीन हैं। मैं उस समय प्याज काट रही थी, प्याज के रस की बूंदें आँख में चली गई थीं और आँखों में पानी आ गया था। गजब हो गया। गाँव में चर्चा फैल गई। ऐसी चर्चा भी हो जाती है।’ साधु यदि निर्दोष भी हों फिर भी अपवाद बन जाता है। लोगों की श्रद्धा-प्रतीति में न्यूनता आ जाती है। साधु-गोचरी के लिए भी जाये तो दो घरों के बीच में ज्यादा खड़ा नहीं रहे। किसी मकान की तरफ ज्यादा निगाहें नहीं डाले। गृहस्थ के घर में चारों तरफ नजर न दौड़ाये। स्नानागार पर दृष्टि गड़ाकर नहीं देखे। शास्त्रकार कहते हैं कि इससे गृहस्थ को संशय होता है कि साधु के मन की स्थिति स्पष्ट नहीं है। खड़े रहने में साधु पूर्ण सजगता बरते। गुरु के पास अविनय से खड़ा नहीं रहे। गुरु से पूछा-कहं चिट्ठे? गुरु ने संकेत दिया-जयं चिट्ठे। जब हम इस संकेत को समझते हैं-तब मार्ग दिखाई दे जाता है। मार्ग अंधेरे में नहीं मिलेगा। हम मार्ग ढूँढ़ कर चलें। तभी गंतव्य तक पहुँच सकेंगे।

यदि इलाके में चोरी डकैती का प्रसंग है और साधु किसी मकान को घूर कर देखे तो उस पर शंका हो सकती है। व्यवहार दृष्टि से यह औचित्यपूर्ण नहीं है। साधु को अनावश्यक इधर-उधर घूमते रहना उचित नहीं है। कार्य सम्पादित होने पर साधु शीघ्र अपने स्थान पर लौट आये। भावों से अप्रमत्त बने। यदि हम इन संकेतों का अनुसंधान करेंगे तो हमारा साधना पथ आनंद रस से आप्लावित हो जायेगा और मंगलमय जीवन का प्रसंग प्राप्त होगा।

- भाद्रपद कृष्णा 3

31-8-96

6

ग्रंथि-विमोचन की महिमा

मनुष्य का जैसे-तैसे विकास हुआ उस विकास के साथ उसके चिन्तन के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। परिणामस्वरूप मान्यताओं, प्रवृत्तियों और विश्वासों में भी बहुरूपता आई जिसके कारण वाद भी बढ़े। जहाँ वाद होता है वहाँ विवाद भी हो सकता है और विवाद को संवाद के रूप में भी बदला जा सकता है। युग के प्रारंभ में अर्थात् जब से कर्म जगत् का जाल फैला और युगनिर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ तब उस निर्माता-युग में शिक्षा देने वाले प्रथम जिनेश्वर, प्रथम राजा भगवान् आदिनाथ हुए। यह आदिनाथ नाम ही उनके आदि शिक्षक अथवा ज्ञानदाता होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। भगवान् आदिनाथ ने साधु जीवन स्वीकारा और उनके साथ ही उनके प्रति अनुराग रखने वाले बहुत से राजकुमारों ने भी मुनि पर्याय को स्वीकार कर लिया। भगवान् मौन थे। उनमें क्षमता थी, धैर्य था यह संकल्प लेने के लिये कि जब तक प्रासुक एषणीय भिक्षा प्राप्त नहीं होगी तब तक मैं निराहार रहूँगा। वे अपने संकल्प पर दृढ़ रहे परन्तु अन्य साधक इतने कठिन मार्ग पर बहुत आगे तक बढ़ नहीं पाये और इतिहास बतलाता है कि उस समय 363 मत/पंथ या वादों का प्रकटीकरण हो गया जिनमें मुख्य थे-विनयवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद और अज्ञानवाद। युग और आगे बढ़ा तो विकासवाद और उपभोक्तावाद, उपयोगितावाद आदि वाद चल पड़े। प्रभु महावीर सहित जितने भी तीर्थकर हो गए हैं उन्होंने जो वाद दिया, जो स्वीकार किया उसमें पुरुषार्थ को महत्त्व दिया यद्यपि उसके साथ काल-नियति

आदि भी समयाव रूप से जुड़ते हैं। अकेला पुरुषार्थ उतना सक्रिय नहीं हो पाता फिर भी पुरुषार्थ की मुख्यता है। वैसे तो स्याद्वाद, अनेकांतवाद, आत्मवाद व कर्मवाद की भी चर्चा हुई है पर प्रस्तुत प्रसंग में पुरुषार्थ का जिक्र है। एक तरफ तो प्रभु ने पुरुषार्थ का कथन किया और दूसरी ओर प्रभु से पूछा जा रहा है- ‘कहं आसे’ भगवन् हम कैसे बैठें? और प्रभु ने समाधान भी दे दिया कि-‘जयं आसे’ यतना से बैठो। लगता है, यह तो परस्पर द्विरूपता है। यदि पुरुषार्थ है तो फिर बैठना क्यों? बैठना है तो पुरुषार्थ हो नहीं सकता। व्यक्ति जब थक जाता है तो आराम के लिए, विश्राम के लिए, बैठता है। बैठना एक प्रकार से अकर्मण्यता का बोध कराता है। हमारे चिन्तन को विराम नहीं मिलेगा। यदि हमारे पास चिन्तन नहीं, सही दृष्टि नहीं तो यह सोचेंगे कि तीर्थकर की वाणी में परस्पर विसंवाद क्यों है? विरोधाभास क्यों है? वस्तुतः यह विरोधाभास नहीं है। अकर्मण्यता की बात प्रभु नहीं कहते क्योंकि वह तो एक प्रकार से प्रमाद है और प्रभु ने कहा है-समयं गोयम मा पमायए-हे गौतम! समय मात्र का प्रमाद मत करो। नीतिकार भी कह रहे हैं-

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति, कार्याणि न मनोरथै : व्यक्ति मनोरथ से नहीं क्रियाशीलता से ही कार्य सम्पन्न कर सकता है। व्यक्ति इन्हीं सारे प्रश्नों के जाल में उलझ जाता है। प्रभु को निर्ग्रथ कहा गया है अर्थात् जिनके जीवन में ग्रंथि नहीं है। यह ग्रंथि क्या है और उसका स्वरूप क्या है? हम विचार तो करते हैं पर पहचान नहीं पाते कि ग्रंथि का स्वरूप क्या है? वह भौतिक तत्त्वों से निर्मित वस्तु है या अभौतिक तत्त्वों से? व्यक्ति विचार करता है कि वह केवल बाहर का जीवन जी रहा है, भीतर का जीवन नहीं जी रहा है। पर सच्चाई यह है कि व्यक्ति भीतर ही जी रहा है। बाहर का जीवन नहीं तो फिर उपदेश का क्या प्रयोजन है? हम इसे समझने का प्रयास करें कि बात और आध्यंतर जीवन का स्वरूप क्या है? बहनें मेले में घूम रही थीं, स्वर्ण आभूषणों से सजी दूकान दिखाई दी। सुन्दर डिजाइन पर बहिन का मन चला गया। उसके भीतर भाव जगा और उसने आभूषण खरीद लिया। बाहर से खरीद रही है पर भीतर भाव जागने पर ही क्रिया बनी है। भाव नहीं

जुड़ेंगे तब तक बाहर तो बहुत-से पदार्थ हैं। पदार्थ से आकर्षण जुड़ने पर ही व्यक्ति उत्सुक होता है और प्रवृत्ति बनती है।

यह बाहर जीने और भीतर जीने का क्या रहस्य है? जब तक पौद्गलिक भावों के साथ संबंध है और आत्मा पर भी पौद्गलिक भावों का आधिपत्य है तब तक उस संबंध से जो भाव निर्मित होते हैं वे विभाव हैं। विभाव से जो गति होती है उसे बात्त्वाति कहा जाता है। वह स्वभाव नहीं है। यद्यपि विभाव भी आत्मा के भाव हैं, इन्हें आत्मा ने ही अर्जित किया है। इन वैभाविक भावों के कारण ही ग्रंथियों का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए समझ लें कि एक रस्सी है। इसमें यदि एक गाँठ लग गई तो उसके बजन में तो कोई अंतर नहीं आयेगा, बजन पूर्ववत् रहेगा, उसमें परिवर्तन नहीं होगा। एक नहीं कई गाँठें लगाने पर भी एक रस्ती बजन नहीं बढ़ेगा, फिर भी उसमें बहुत-सा परिवर्तन हो जायेगा। अंतर आ जायेगा। अब उस रस्सी में बधन क्रिया की समर्थता नहीं रही वह सिकुड़ गई। गाँठें संकुचित करती हैं भीतर का फैलाव सिमट जाता है। प्रभु ने कहा—‘मित्ती मे सब्ब भुएसु’ भीतर मैत्री का झरना बहे और नीतिकारों ने भी कहा है—‘कमुष्ठैव कुटुम्बकं’—कमुष्ठा अर्थात् पृथ्वी पर जितनी आत्माएँ हैं—उनसे परिवारिक संबंध स्थापित हों। फिर हम परिवार के किसी सदस्य को दुःखी नहीं देख सकेंगे। कौटुम्बिक भावों में दुराव नहीं रहेगा, आत्मीय भाव जुड़ जायेंगे। ये सेद्धार्तिक बातें हमारी आत्मा का मौलिक स्वभाव हैं—पर जैसे ही ग्रंथियाँ बनती हैं, विस्तार सिमटता चला जाता है। एक परिवार में चार भाई हैं, शादियाँ हो गईं। कई घर ऐसे हैं, जहाँ क्लेश नहीं होगा, परस्पर स्नेह होगा। पर ऐसे घर भी हैं जहाँ पुत्र शादी से पूर्व अलग हो जायं या शादी के बाद अलग हो जायं। बहन सोचती है, यह देवर की संतान है, उसकी नटखटता मुझसे सहन नहीं होगी। स्वयं की संतान चाहे कुछ कर ले। ये मोह की ग्रंथियाँ हैं। अपनेपन की गाँठ बंध गई तो फिर परिवार से वह संबंध नहीं रहा। विस्तार संकुचित हो गया। वैसे देखा जाय तो ग्रंथि का कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी नहीं है। यदि गाँठ खोल दी जाय तो कोई अलग वस्तु प्राप्त नहीं होगी। मानसिक ग्रंथियाँ भी विचारों में निर्मित होती हैं। गाँठयुक्त रस्सी बाँधने के काम नहीं आतीं। उसी

प्रकार इन वैचारिक ग्रंथियों में उलझकर हम जो कार्य करना चाहते हैं वह कर नहीं पाते। उलझन में अनेक संज्ञाएँ बन जाती हैं। कवि आनन्दघनजी प्रार्थना के माध्यम से कह रहे हैं-

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव, ललना।

सात महाभय कहे गए हैं जैसे- 1. इहलोक भय, 2. परलोक भय, 3. आदान भय, 4. अकस्मात् भय, 5. आजीविका भय, 6. मरण भय, 7. अश्लोक-अपयश भव। पहले भय का जागरण होता है, हम पोजीशन बनाना चाहते हैं लेकिन आगे की परिणति देखें। प्रभु महावीर कह रहे हैं- यतना से बैठें। हम देखते हैं, जब व्यक्ति निराशा या हीन भावना से ग्रस्त होता है तो वह सुस्त होकर बैठ जाता है। मैं नहीं मानता कि तीर्थकर ऐसे निराशापूर्ण ढंग से बैठने की अनुज्ञा देंगे। निराशा कैसे पैदा होती है? जब हमारे भीतर काम-क्रोध की भावना हो, भीतर यह क्रोध क्यों पैदा होता है। मनोविज्ञान ने जहाँ तक खोज की है और इसके कारणों को जोड़ा है उसके अनुसार क्रोध आता है तो मानिए व्यक्ति निराशा में है। नैराश्यपूर्ण भावों के कारण, आशा की जब एक किरण भी नहीं मिलती तो वह उट्ठिग्न हो जाता है, उसे क्रोध आ जाता है। निराश व्यक्ति की सारी शक्ति क्षीण होने से वह कमजोर होने लगता है तो बचाव के लिए सहयोगी की अपेक्षा करता है तब उसे क्रोध और अहंकार रूप साथी सहारा देते हैं, आश्वस्त करते हैं कि तुम्हें हम मजबूती से खड़ा रखेंगे। अहं से ही क्रोध प्रेरित होता है और आज मनोविज्ञान ने यह स्पष्ट किया है कि क्रोध की उत्पत्ति में निराशा के बीज होते हैं अन्यथा सहसा क्रोध पैदा नहीं होगा। प्रश्न है कि निराशा क्यों आ गई? समाधान है कि निराशा आई चिन्ता से! चिन्ता का जन्म हुआ भय से। भय का जन्म हुआ प्रतिष्ठा से। ये सूत्र गहरे जुड़े हुए हैं, हम जान नहीं पाते। आप चिन्ता का अँपरेशन कीजिए, किसी चाकू-छुरी से नहीं। उसके भीतर पहुँचिये। ज्ञात होगा कि उसके भीतर भय के कीटाणु किलबिला रहे हैं। भय के कीटाणु यदि समाप्त हो जायें तो चिन्ता नहीं रहेगी-चिन्तन होगा। चिन्ता में आशा की, प्रकाश की किरण नहीं होती, मानसिक शक्ति जर्जरित हो जाती है। चिन्ता में घुलते हुए सही मार्ग नहीं ढूँढ़ पाते बल्कि निराश हो जाते हैं। सबसे पहले कारण

को ढूँढ़ना होगा-कारण हैं सात महाभय। आज व्यक्ति कैसे-कैसे भय पालता है। मेरा परलोक कैसा होगा? वर्तमान को सुदृढ़ बनाइये तो भविष्य अपने-आप सही होगा। यदि वर्तमान बिगड़ गया तो फिर भविष्य कैसे सुरक्षित रहेगा? वर्तमान को सुदृढ़ करना है तो सात भय टालो। प्रतिष्ठा का भय और यशस्वी जीवन की आकांक्षा यदि पूर्ण न हो पायें तो फिर निराशा। एक दर्शनिक ने कहा है-कमल का फूल जब तालाब का पानी बढ़ता है तो ऊपर आ जाता है पर पानी घटने पर नीचे नहीं जाता। कितनी गहन बात है। एक व्यक्ति के स्रोत बढ़ने से, आमदनी के जरिए बढ़ने से उसका खर्च भी बढ़ जाएगा। चाय-पानी, शराब, बीड़ी आदि पर, जिनकी जीवन में कोई आवश्यकता नहीं है, यह खर्च बढ़ेगा। कचरा (धन) बढ़ने पर शौक भी बढ़ जायेंगे पर यदि आमदनी कम होने लगे तो खर्च कम नहीं होंगे और फिर व्यक्ति धीरे-धीरे निराशा से घिरने लगेगा-अब दुनिया को मुँह कैसे दिखाऊँ? प्रगाढ़ चिन्ता के कीटाणु पनपेंगे और फिर वह निढाल हो जायेगा। एकदम उदास और सुस्त होकर बैठ जायेगा। भगवन् से पूछा गया-कैसे बैठें? भगवान ने उत्तर दिया तो एक महत्त्वपूर्ण बात बताई क्योंकि बैठने में भी साधना रही हुई है। बैठने के भी भिन्न-भिन्न तरीके होते हैं। प्रभु ने कहा-शुद्ध पृथ्वी पर नहीं बैठना। शुद्ध पृथ्वी अर्थात् जिसमें जीव मौजूद हैं। इसके अलावा-पमन्जित्तु निसीइज्जा पूंजकर आँखों से प्रतिलेखन कर फिर बैठना। जो व्यक्ति हड़बड़िया होगा, असंयमी, अयतनावान होगा तो वह जमीन को न तो पूंजेगा और न देखना बल्कि धम्म से बैठ जायेगा, भले वहां छोटे-छोटे बिच्छू हों और उनकी आत्मा का हनन कर दें। बैठने की गतिविधियों पर उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु ने बहुत कुछ संकेत दिए हैं-

ण पक्खओ ण पुटओ, नेव किप्याण पिद्वओ।

ण जुंजे उरुणा उरुं, सयणे णो पडि स्मुणे॥

नेव पल्हत्थियं कुञ्जा, पक्खपिंड य संजए।

पाए पस्सारिए वावि, णविद्वे गुरुणांतिए॥

उत्तरा.१/१८,१९

-अवलोबिआ न चिद्वेज्जा। दशवै 5/2/9

गुरुओं के दाँ, बाँ और पीछे अडकर नहीं बैठें पल्हत्थी

लगाकर व घुटने खड़े करके पिण्डलियों को हाथों के बीच डाल कर और पैर पसार कर नहीं बैठें। दीवार का सहारा लेकर भी नहीं बैठें। आज तर्क का युग है, कोई तर्क कर सकता है सहारा लेने में क्या नुकसान है? पर तीर्थकर जो कहते हैं उसके पीछे अर्थ है—सहारा लेकर बैठने से दीवार के किनारे जो क्षुद्र जन्तु चलते हैं उनका अतिपात संभव है। यदि वे जन्तु विषैले हों और काट खायें तो असमाधि भी पैदा होती है। आयुर्वेद शास्त्र भी बतलाता है कि सहारा लेने से जठराग्नि मंद होती है और मंदता के फलस्वरूप वात-पित्त-कफ का प्रकोप बढ़ता है। वात-पित्त-कफ के साथ हमारे कर्मों का संबंध रहता है। आचार्य मेघविजयजी ने इसका सुन्दर निरूपण किया है। वायु बढ़ने से मस्तिष्क की चिन्तन शक्ति काम नहीं करती। 60 वर्ष की आयु के बाद वायु बढ़ने के अवसर अधिक रहते हैं अतः सावधानी रखनी चाहिए। यदि सावधानी नहीं तो मानसिक जड़ता बनेगी, बुद्धि पर आघात होगा और वह जड़ता ज्ञानावरणीय कर्मों का बंध करने वाली होगी। पित्त का संबंध आयुष्य के साथ जुड़ा हुआ है। यदि शरीर में पित्त बनना बंद हो जाय तो शरीर पीला पड़ने लगेगा। व्यक्ति कंकाल मात्र रह जायेगा और मृत्यु के नजदीक पहुँच जायेगा। इसी प्रकार कफ का संबंध नाम कर्म की प्रकृति से है। यदि व्यक्ति एक बैठक में ही ज्यादा बैठता है तो वात-पित्त-कफ के प्रकोप से भीतर की स्थिति गड़बड़ा जाती है। आयुर्वेद कहता है कि न अति चलना न अति बैठना। सभी क्रियाएँ संतुलित होनी चाहिए। यदि व्यक्ति मस्तक पर हाथ रखकर शोकासन से बैठा है तो ज्ञात होगा यह चिनता में, निराशा में है। यदि चिन्ता नहीं भी है पर उस रूप में बैठे हैं तो समझिए आपने चिन्ता के लिए आसन बिछाया है उसे आमंत्रण दिया है। पैर पसार कर नहीं बैठना क्योंकि यह तो व्यवहार में भी असभ्यता का सूचक है और पैर फैलाने में अवलम्बन की जरूरत होगी। अवलम्बन से उदर का फैलाव होगा और वायु का विस्तार होगा। और जो कहा गया है कि—

णेव पल्हत्थियं कुञ्जा अर्थात् पलाठी लगाकर नहीं बैठे।
पलाठी अर्थात् पटेलों का आसन। यह आसन वैसे भी अविवेक का

सूचक है। इस प्रकार बैठने से आंतों पर दबाव पड़ने से पेट की क्रिया में गड़बड़ी आयेगी। विचारों में विनय का प्रवाह नहीं, सभ्यता का संचार नहीं बल्कि अहं का प्रादुर्भाव होगा। पैर पर पैर चढ़ाकर भी नहीं बैठना। ज्ञानियों ने इस आसन को अहं का प्रतीक माना है। अहं के भाव, उसकी आध्यात्मिक साधना को भी कामयाब नहीं होने देंगे। व्यवहार दृष्टि से भी वह अहं के कारण परिवार समाज से टूटता चला जायेगा। अहंकारी स्फुलता के सूत्र प्राप्त नहीं कर पायेगा। बैठने के लिए साधना की दृष्टि से भी 3/4 आसन महत्वपूर्ण हैं जिनमें पत्तसन, सिद्धासन और सुखासन प्रमुख हैं। इन आसानों से शरीर की क्रियाएँ शुद्ध होती हैं और भीतर शुद्ध भावों का प्रादुर्भाव होता है। पत्तसन में चिन्ता, निराशा का लेश भी नहीं हो सकता। आप प्रयोग करिये—‘हाथ कंगन को आरसी क्या।’ हमारे विचारों में ऊर्ध्वकरण होगा पर आसन सही तरीके से लगाना आवश्यक है। घुटने जमीन का स्पर्श करते हुए हों और शरीर का भार जंघा (उरु) भाग पर होना चाहिए। बैठने में तकलीफ महसूस नहीं हो। अध्यास के बाद हम इन आसानों पर लम्बे समय तक बैठ सकेंगे। बैठने की क्रिया का असर मन पर भी पड़ता है। मन यदि नहीं सधा तो साधना आगे नहीं बढ़ पायेगी। यतना से आसानों का प्रयोग किया जाय। एक राहगीर चल रहा था। प्यास लगी, पास में कुआँ दिखाई दिया, रस्सी-बाल्टी का साधन भी था। व्यक्ति कुएँ के तट पर जाकर बैठ गया। इन्तजार करने लगा कि कोई आए तो मुझे पानी पिलाये। थोड़ी देर में दूसरा पथिक भी पहुँच गया, वह भी प्यासा था। पहले राही ने कहा—भाई जरा मुझे पानी पिला दो। आगंतुक ने कहा—तुम तो मुझसे पहले आ गये, फिर पानी क्यों नहीं पिया। पहले ने कहा—भाई मैं अमीरजादा हूँ। अपने हाथ से लेकर पानी कैसे पीऊँ? इसलिए तुम पिला दो। दूसरा भी बैठ गया। भाई, तुम अमीरजादा हो तो मैं भी नवाबजादा हूँ। मैं क्यों हाथ से पानी पीऊँ? दोनों बैठ गए। अब थोड़ी देर में फिर तीसरा राही भी आ गया। दोनों एक स्वर में कहने लगे—हमें जरा पानी पिला दो। जोरों से प्यास लगी है। आगंतुक ने कहा—मगर तुम दोनों अब तक प्यासे क्यों बैठे हो? साधन तुम्हारे पास हैं। उत्तर मिला—‘भाई, मैं अमीरजादा हूँ, और यह नवाबजादा है। हाथ से

पानी पीने में तौहीन होगी।' तीसरे ने भी आसन बिछा लिया-' और भाई मैं तो शहजादा हूँ मैं पानी कैसे पिला सकता हूँ।' तीनों प्रतीक्षा कर रहे थे इन्हें में चौथा राही आया, तीनों ने कहा-पुण्य का काम है हमें पानी पिला दो। उसने भी कारण पूछ लिया। उत्तर पाकर, अच्छा ऐसी बात है। उसने डोर सम्भाली, बाल्टी कुएँ में उतारी, पानी निकाला। हाथ-पैर धोये। फिर अपनी प्यास बुझाई और अपनी राह पकड़ ली। तीनों ताकते रह गए-अरे तुम तो पानी पीकर चलते बने, हमें पानी क्यों नहीं पिलाया? उत्तर मिला-अरे भाई, तुम तो अमीरजादा हो, नवाबजादा हो और शहजादा हो तो मैं भी कम नहीं, मैं भी हरामजादा हूँ। जब-जब आप जैसे प्रतिष्ठा के भूखेजादे जन्मते हैं तब-तब हरामजादों का भी जन्म होता है। बैठे तो वे भी थे पर उनमें साधना नहीं थी, अपितु आकांक्षा थी। पोजीशन का भूत सवार था। प्रभु महावीर यह नहीं कहते हैं कि हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाओ। प्रभु ने कहा-स्वयं अपना कार्य आप करो तो फिर कभी निराशा नजदीक नहीं आयेगी। पुरुषार्थ से मन की गतिविधि संचालित करो। प्रभु ने कहा है-जो आसन चड़-चड़ करता है उस पर नहीं बैठें। पत्तसन में बैठने के योग संबंधी कारण भी हैं। हमारी जो रीढ़ की हड्डी (मेरुदंड) है उसके भीतर जो कई नलिकाएँ हैं उनमें एक सुषुम्ना नाड़ी भी है जिसके भीतर पोलार रहती है जैसे बांसुरी के भीतर पोलार रहती है। उसमें प्राणों का संचरण होता है। सहारा लेकर बैठने या झुककर बैठने से वह सुषुम्ना सिकुड़ जाती है। रस्सी में गाँठ लगने पर रस्सी सिकुड़ जाती है तो वह बांधने के लिए उपयोगी नहीं होती उसी प्रकार सुषुम्ना के सिकुड़ जाने पर उसमें होने वाले स्राव का प्रवाह मस्तिष्क से संबंधित नहीं रह पाता और ऊर्ध्वीकरण की क्रिया संभव नहीं हो पाती। यदि हम सीधे तनकर बैठें तो प्राणायाम सहज सध जायेगा। झुककर बैठने से श्वास फफेड़ों में लगभग 6 करोड़ छिद्र माने गए हैं। सही श्वास लेने वाला व्यक्ति भी 2 करोड़ छिद्रों को भी नहीं भर पाता। प्राणायाम की पूर्ति बराबर होने से, उपघात लगने से भी मृत्यु नहीं होगी जीवन व्यवस्थित रहेगा। जो योगीजन 6 करोड़ छिद्रों को भर लोते हैं उनके बारे में लोकभाषा में कहा जाता है कि वे अमर हो गये। प्रभु ने हमें ऊर्ध्वीकरण की जो प्रतिक्रियाएँ दी हैं हम उनका प्रयोग करें, उनमें

अवगाहन करें। यदि व्यवस्थित जीवन शैली अपना ली जायेगी तो प्रदूषण समाप्त होता चला जायेगा। यदि जीवन शैली में सुधार नहीं तो वह आगे के आयाम कैसे प्राप्त करेगा? प्रभु की साधना-विधाओं पर चिन्तन-मनन करें। पूज्य गुरुदेव ने भी हमें समीक्षण ध्यान और समता दर्शन दिया है पर हम इन्हें अपना कितना पाए हैं? समता सिद्धांत दर्शन का फार्मूला है कि हम ग्रंथियों को खोलें, ग्रंथि-विमोचन के बाद ही हम जीवन दर्शन में आएंगे और जीवन दर्शन में आर्नदित होकर, आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन में प्रविष्ट होंगे। लेकिन प्राथमिक भूमिका है ग्रंथि-विमोचन की। प्रभु ने भी कहा है कि अनादि मिथ्यादृष्टि भी अपूर्वकरण द्वारा ग्रंथि-विमोचन करके संसार परित्त कर लेता है। ग्रंथि खुलते ही अनिवृत्तिकरण के आगे बढ़ जाता है। गुरुदेव ने भी हमें समता दर्शन के माध्यम से इसका दिग्दर्शन कराया है। इस प्रकार हम रूपान्तरित जीवन शैली पर अमल करेंगे और प्रभु प्रदत्त ‘जयं आसे’ सूत्र से जीवन को अलंकृत करेंगे तो प्रभु महावीर की ही तरह शुद्ध-बुद्ध, निरंजन-निराकार स्वरूप से मंगलमय अवस्था उपलब्ध कर सकेंगे।

—भाद्रपद कृष्णा 4

1-9-96

सार्थक सुषुप्ति का स्वरूप

श्री सुपाश्वर्जिन वंदीए सुख संपत्तिनो हेतु, ललना।
शांत सुधारस जलनिधि, भवसागरमां सेतु, ललना॥

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर केवलज्ञान केवलदर्शन की ज्योति से आलोकित, स्वयं की आत्मा में उपस्थित हो विराजमान हैं। गणधर गौतम प्रभु के चरणों में पहुँचते हैं और वंदन नमस्कार करते हुए प्रभु से प्रश्न करते हैं- भगवन्-मनुष्य के कितने प्रकार हैं? प्रत्युत्तर मिला-मनुष्य तीन प्रकार के हैं परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न उत्तर भी दिया जा सकता है- मनुष्य अनेक प्रकार के भी हो सकते हैं और तीन प्रकारों में भी भिन्न-भिन्न अर्थों की संयोजना की जा सकती है। तीन प्रकार के मनुष्य हैं- सुप्त, सुप्त जाग्रत और जाग्रत। सुप्त अर्थात् सोया हुआ। यह सोना भी कई प्रकार से होता है। एक प्रकार की सुषुप्ति वह है जिसमें चेतना सुषुप्त है उसे न विषय का बोध है, न स्वयं का बोध कि मैं कौन हूँ। दूसरी सुषुप्ति है शारीरिक अंगों की, जिसमें अंग सोए हुए होते हैं पर मनुष्य जागा हुआ होता है। तीसरी सुषुप्ति शरीर के हल्केपन की है जिसमें व्यक्ति सोता है और हल्केपन की अनुभूति करता है। प्रथम सुषुप्ति आत्मा में लम्बे समय से जारी है, उसे स्व का भान नहीं। आचारांग सूत्र (1/1/2) के माध्यम से कहा गया है-

‘इहं एगेसिं णो सण्णा भवइ’ यहाँ कितने ही जीवों की संज्ञा नहीं होती उनका परिश्रमण जारी है। चलना, फिरना, बोलना, सब

क्रियाएँ चल रही हैं पर संज्ञा नहीं है। बहुत बार हम देखते हैं, व्यक्ति कितनी ओघ संज्ञा में रहता है, उसे बोध नहीं रहता। व्याख्यान से व्यक्ति उठा, जूते-चप्पल पहने, कार के पास गया, पॉकेट से चाबी निकाली, चाबी लगाई, कार में बैठा और कार स्टार्ट, कार चलती रही पर ये सारी क्रियाएँ वह रूटीन में कर गया। आनायास मार्ग में मोड़ आ गया तो भले उसे झटका लगा। क्रिया कर रहा है पर कुछ ज्ञात नहीं। जो-कुछ वह करता रहा लगभग उचित रूप में करता रहा। यह भी एक प्रकार की सुषुप्ति है। वैसे ही चेतना की सुषुप्ति में अनेक क्रियाएँ करता रहता है पर सुषुप्ति समाप्त नहीं होती। ऐसी आत्माओं को प्रभु ने सुप्त कहा है। जिन आत्माओं को कुछ बोध है और कुछ नहीं है, कुछ क्षणों में जो जाग जाता है, कुछ क्षणों में सो जाता है। योग्य साधन, संत सतियों की प्रेरणा से जागरण होता है, यदि इनका सानिध्य छूट जाये तो फिर सुषुप्ति आ जाती है। वह अवस्था है सुप्त जाग्रत की। तीसरी अवस्था जाग्रत कही गई है। जाग्रत अर्थात् जो जगा हुआ है-आचारांग सूत्र (1/2/3) में प्रभु ने कहा है-उद्देसो पासगस्स णन्त्यि॥ जो पासग है अर्थात् देखने वाला है-तत्त्व द्रष्टा है उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं। मनुष्य को देखने वाला माने या न देखने वाला। सत्य यह है कि मनुष्य देखता भी है और उसकी आँखें बंद भी रहती हैं। यदि किसी की रोशनी मंद हो, आँखें, विषय-ग्रहण में अक्षम हों तो वह देख नहीं पाता। आँखें नहीं होने पर भी मनुष्य देख सकता है। ऊपर की आँखें ही सब-कुछ नहीं हैं। भीतर की आँखें प्रत्यक्ष ज्ञान (अवधिज्ञान, मनःपर्यव, केवलज्ञान) की आँखें उपलब्ध होने पर बाहर की आँखें न होते हुए भी वह पारदर्शी हो सकता है। निर्मल श्रुतज्ञान से भी देखने की स्थिति बनती है। कवि सूरदासजी के लिए कहते हैं कि उनके नेत्रों की वह स्थिति नहीं थी कि देख सकते पर कैसे विलक्षण पद रचे और भक्ति का स्रोत प्रवाहित कर गये सिर्फ इस कारण क्योंकि उनकी भीतर की आँखें जाग्रत थीं। जिसकी भीतर की आँखें जाग्रत हैं उसे ही जाग्रत कहा गया है।

पासग वही है जिसने आत्मा को देख लिया है। ऐसे व्यक्ति को उपदेश की जरूरत नहीं होती क्योंकि उसने अपना घर देख लिया होता है। जिसने घर को पहचान लिया, उसे और क्या बताया जाय?

शयन के संदर्भ में प्रभु से पूछा-कैसे सोएँ? उत्तर मिला-यतना से सोएँ। यह दूसरा प्रकरण प्रारंभ हो गया। अब तक चेतना से संबंधित प्रकरण चल रहा था। अब जो चेतना जाग्रत है पर शरीर धारण कर चल रही है उसके लिये सोना भी आवश्यक है क्योंकि शरीर रूप यंत्र कार्य करते-करते थक जाता है अतः उसे सोना पड़ता है। यह बात अलग है कि किसी महास्वत्वशाली को सोना नहीं भी पड़े। प्रभु महावीर की साधना अखंडित साधना रही थी, उसमें प्रमाद का नामोनिशान नहीं था। आचारांग सूत्र नौवें अध्ययन में कहा गया है कि दीक्षा के पश्चात् भगवान् ने कभी प्रमाद का सेवन नहीं किया। अप्रमत्त भाव में विचरते रहे। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि आगमों में अनुसंधान करने पर एक बात सामने आती है कि सातवाँ गुणस्थान अप्रमत्त संयत का है और उसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त की है। प्रभु छद्मस्थ अवस्था में लगभग साढ़े बारह वर्ष रहे। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष प्रमाद का सेवन नहीं किया तो वे सातवें गुणस्थान में रहे? फिर यह कैसे संभव है और सातवें गुणस्थान की स्थिति अंतर्मुहूर्त है। फिर संगति कैसे बैठेगी? समाधान-यह यथार्थ है कि सातवें गुणस्थान की स्थिति अंतर्मुहूर्त है पर छठवें गुणस्थान के दो भेद हैं-शुभ योग पदुच्च, अशुभ योग पदुच्च। भगवती सूत्र में कहा गया है-अशुभ योग में आत्मरंभी, परारंभी और तदुभयारंभी ये तीनों अवस्थाएँ होती हैं। शुभ योग वाले को अनारंभी कहा गया है और सातवें गुणस्थान वाला भी अनारंभी होता है। उस दृष्टिकोण से छठवें गुणस्थान में शुभ योग वाला अप्रमत्त के नजदीक है। प्रभु ने उसमें प्रवर्तमान रहते काल व्यतीत किया। अतः यह कथन कि प्रभु ने प्रमाद का सेवन नहीं किया, यथार्थ है। प्रभु ने प्रमाद सेवन नहीं किया पर यदि साधना करते थकान से नींद आती तो उस स्थिति में चक्रमण करते (घूमते)। निद्रा के अधीन नहीं होते। प्रमाद सेवन नहीं करते पर साधना करते। इस प्रकार वे जाग्रत साधना की दशा में रहे। प्रत्येक साधक उस प्रकार की साधना नहीं कर पाता है, आवश्यकता होने पर उसे शयन भी करना पड़ता है। पर किस विधि से, कैसे और कब शयन किया जाय, यह जानना भी आवश्यक है। साधक को समाचारी में बताया गया कि रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे

प्रहर में शयन और चौथे प्रहर से पहले निद्रा से मुक्त हो जायें। प्रश्न होगा एक पहर की नींद से क्या थकान मिट जायेगी? यह कोई निद्रा का समय है? इस प्रकार नींद कैसे पूरी होगी? तीन घंटे में उठ जाने वाला दिन में झापकी लेगा। उसे दिन में सोना पड़ेगा। फिर हम नींद के सही स्वरूप को कैसे समझें? वस्तुतः सचाई यह है कि हमारा सोना सही तरीके से नहीं होता क्योंकि हमारा जीवन सही तरीके से नहीं चल रहा है। यदि हमारी दैनंदिनी सही हो तो कहीं दिक्कत नहीं आयेगी और तीन घंटे की नींद भी पर्याप्त होगी। दिन भर हम मानसिक छंद में उलझे रहते हैं। दिल प्रकंपित है और शयन कर भी लिया तो विचारों की उथल-पुथल वहाँ भी जारी होगी। तंद्रा आ भी गई तो थकान दूर नहीं होगी। किन्तु यदि कोई साधक है, जिसका चित्त पर नियन्त्रण है तो शयन में आते ही वह ऐसी नींद लेगा जिसे व्यावहारिक भाषा में घोड़े बेचकर सोना कहते हैं। और ऐसी नींद में तीन घंटे में ही स्फूर्ति आ जायेगी। घोड़े बेचकर कैसे सोया जाता है? एक प्रसंग याद आ गया। एक गरीब व्यक्ति किसान के घर गया। किसान ने देखा आदमी हटा-कटा है। पूछ लिया-क्यों भाई, कैसे आए हो? आगन्तुक ने कहा- गरीब हूँ, नौकरी की तलाश में आया हूँ। किसान ने पूछा-क्या काम कर सकते हो? आगन्तुक ने कहा-इसमें क्या पूछना? जो बनेगा सब-कुछ कर सकता हूँ। किसान ने पूछा-अच्छा तुम हल चला सकते हो? उत्तर मिला-हाँ। फिर प्रश्न हुआ-पशुओं को चारा-पानी दे सकते हो? आगन्तुक ने कहा-दे सकता हूँ। किसान ने पूछा-खेत-खलिहान की देख-रेख कर सकते हो? आगन्तुक ने कहा-हाँ, कर सकता हूँ। बातचीत करके किसान ने उसे नौकरी पर रख लिया। उस व्यक्ति ने कहा-मुझे तुम्हारी सारी शर्तें मंजूर हैं लेकिन मेरी एक शर्त है। जब मैं सोया हुआ रहूँ तो कोई मेरी नींद में दखल न दे। मैं घोड़े बेचकर सोता हूँ। मैं नींद में बेखबर रहता हूँ। किसान ने मंजूरी दे दी। कुछ दिन बीते। एक दिन भयंकर बारिश हुई। किसान को नींद नहीं आई, चिन्ता होने लगी। अरे, वह तो बेखबर सो रहा होगा। खेत की पालें टूट गई होगी, फसल बह जायेगी। पशुओं का क्या हो रहा होगा? किसान उठा और पुत्र को साथ लेकर खेत पर गया। देखा नौकर तो गहरी नींद में खर्गाटे

भर रहा था। किसान सोचने लगा, इतनी वर्षा होने पर भी इस पर तो कोई असर नहीं हुआ। यह इतना निश्चिंत कैसे है? किसान खेत में घूमा। देखा, पालों पर बराबर मिट्टी डाली हुई थी। कहीं कोई क्षति नहीं हुई थी, पशु यथास्थान बाँधे हुए थे। सारा काम निपटा कर वह सोया था। मुद्दे की बात यह है कि जो व्यक्ति अपने कर्तव्य के प्रति सजग है, जिसने कार्य को पूर्ण कर लिया है, वही आराम से सो सकता है। यदि हमारे भीतर आकांक्षाएँ पनप रही हैं। संकल्प-विकल्प चल रहे हैं, उनकी पूर्ति नहीं हो पाई है तो हम सही तरीके से नहीं सो पायेंगे। और उस स्थिति में थकान भी दूर नहीं हो पायेगी। अंग सोये रहेंगे, व्यक्ति सोचता रहेगा, अभी तो नींद नहीं उड़ी। वह आलस्य में पड़ा रहेगा। सोने का तात्पर्य है शरीर को शिथिल करना। अकड़कर या तनकर सोने से थकान दूर नहीं हो पायेगी जबकि शिथिलीकरण से तीन घंटे में ही वह तरोताजा हो जायेगा। योगासन में रहने वाले ऋषि सोते हैं पर प्रक्रिया भिन्न होती है। योग निद्रा में ऊपर से हमें लगते हैं सोये हैं पर वे जाग्रत होते हैं। आचारांग सूत्र (1/3/1) में कहा गया है-

सुत्ता अभुणी, मुणिणो सया जागरंति॥

अर्थात् जो सोता है वह अमुनि है, मुनि तो सदा जाग्रत रहता है। शयन की जहाँ बात आई है वहाँ पाट और आसन के बारे में भी बताया गया है। शश्या संस्तारक बिछा कर सोना चाहिए। साधना पद्धति में जब साधक संथारा करता है तो पहले घास का संस्तारक बिछाता है। कथाओं में हम पढ़ते हैं कि व्यक्ति मार्ग भटक जाता है, जंगल में पहुँच जाता है। रामायण के प्रसंग में भी बताया गया है कि राम-सीता-लक्ष्मण जब अयोध्या से बनवास के लिए रवाना हुए और जब रात्रि में रुकने का प्रसंग आया तब राम ने कहा-लक्ष्मण, अब यहाँ वे पलंग नहीं हैं, मखमली गदे-तकिए भी नहीं हैं। तब लक्ष्मण जंगल से सूखे पत्ते चुनकर लाये। उनका आसन बिछाकर शयन की व्यवस्था कर दी। एक शश्या पर राम, एक पर सीता सो गयीं और लक्ष्मण बनचरों से सुरक्षा के लिए पहरे पर तैनात हो गये। सामायिक में भी आसन बिछाने का प्रयोजन बताया गया है? यदि हम धरती पर बिना आसन बैठेंगे तो हमारे भीतर जो ऊर्जा

संगृहीत है वह ऊर्जा पृथ्वी खींच लेगी। भीतर ऊर्जाहीन स्थिति न बने इसलिए आसन का प्रावधान है। शयन-विधि में दिशाओं का भी महत्व बताया है। हमारा मस्तक-पश्चिम-दक्षिण दिशा में और पैर उत्तर पूर्व दिशा में हों। प्रश्न होगा शुभ दिशा में पैर क्यों रखा जाय? यदि हम सीधे सोये हुए हों तो सीधे, और करवट लेना हो तो बाईं करवट सोना चाहिए। पश्चिम में मस्तक व पूर्व में पैर होगा तो करवट लेने पर मुँह उत्तर दिशा में हो जायगा और उठते ही सामने पूर्व दिशा का प्रसंग होगा। पूर्व दिशा-प्रकाश दिशा, उदय की दिशा मानी गई है और हमें यह प्रेरणा मिलेगी कि हम उदय की ओर आगे बढ़ते रहें। उत्तर दिशा का भी माहात्म्य है। हम सोचेंगे साधना का दिशा से क्या संबंध? आगमों में उललेख है—यदि प्रव्रजित करना हो, मुंडित करना हो, आहार, ज्ञानार्जन करना हो तो पूर्व, उत्तर दिशा में मुँह करके करना चाहिए। और इन दोनों दिशाओं से भी बढ़कर ईशान दिशा का महत्व है। साधक संयम स्वीकार करता है तो ईशान कोण में पोशाक परिवर्तन कर फिर गुरु चरणों में उपस्थित होता है। यदि हम चिन्तन कर खोजें तो ज्ञात होता है कि अन्य दिशाओं में काल राहू का निवास है पर ईशान कोण काल राहु से मुक्त है। ईशान में महाकाल (शिव) का अवस्थान है। हम काल पर विजय प्राप्त करने के लिए ईशान कोण में उपस्थित होते हैं। गुरु चरणों में हम काल पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा से पहुँचते हैं और कहा भी जाता है कि साधु बनने वाला कफन बाँध कर निकलता है।

शयन की विधि बताई है कि मुर्गे को उल्टा करने पर जो आकृति बनती है उसी प्रकार साधु सोये। साध्वी करवट लेकर सोए। करवट बदलने से पूर्व प्रमार्जन किया जाय, इसमें भी जागरण का भाव है। इससे हो बातें स्पष्ट होंगी—पूँजने से जन्तु का अतिपात नहीं होगा और उससे पहले स्वयं जगेगा। भीतर का जागरण है तो ऊपर से सोना भी शयन नहीं। जागरण नहीं तो चेतना की प्रगाढ़ अवस्था में बोध नहीं होगा। वैज्ञानिक प्रयोग ने शोध की है कि हमारे भीतर नींद कैसे आती है और नींद से जगाया कैसे जा सकता है। उन्होंने यौगिक प्रयोग किये। एक व्यक्ति बैठा है उससे कहा गया—सो जाओ....सो जाओ.....सो जाओ.

.... और सचमुच उसे नींद आ गई। लगभग आधा घंटे बाद फिर कहा गया—जग जाओ.....जग जाओ.....जग जाओ..... वह उठ बैठा। उसे कुछ मालूम ही नहीं हो पाया। शयन प्रक्रिया में शिथिलीकरण से स्नायु तंत्र में रूपांतरण होता है। यही शयन है।

ग्लेसर को 24,500 फीट की ऊँचाई पर ले जाया गया तो वह दिग्मूढ़ हो गया। यह भान नहीं कि क्या हो रहा है। चूँकि वहाँ उसे प्राणों के लिए आवश्यक आक्सीजन उपलब्ध नहीं हो पाई। जीवनी शक्ति के अभाव में वह दिग्मूढ़ हो गया। और जब उसे और ऊपर 28,000 फीट की ऊँचाई पर ले जाया गया और पूछा गया—घड़ी में कितने बज रहे हैं, तो वह बता नहीं सका। मस्तिष्क का संबंध टूट जाने से वह समय निर्धारण में सक्षम नहीं रह पाया था। यह भी एक प्रकार की सुषुप्ति है। चिकित्सक जब ऑपरेशन करते हैं तो इंजेक्शन से रोगी को सुला देते हैं। यद्यपि उसे नींद नहीं आती है पर उसकी कोशिकाओं को शिथिल कर दिया जाता है। इतना शिथिल कर दिया जाता है कि यदि अंग काट भी दिया जाये तो अनुभूति नहीं होती। इसी स्थिति में यदि ध्यान साधना में पहुँच जाय तो बेहोशी के लिए इंजेक्शन की जरूरत नहीं रहेगी। मन, वचन से इतने शिथिल हो जायें तो फिर स्वप्न भी नहीं आयेंगे लेकिन यदि विचारों की दौड़ जारी है तो शरीर तो शिथिल हो जाएगा पर थकान दूर नहीं होगी। ग्लेसर को पुनः 14,000 फीट पर लाया गया तो उसकी क्रिया सहज रूप से संचालित होने लगी। शयन के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी महत्व है। उनका भी ध्यान रखा जाना चाहिये। हमारी सुषुप्ति दूर हो, इसके लिये आवश्यक है कि हम शयन प्रक्रिया को सुधारें और इन अनुसंधानों को ध्यान में रखते हुए मंगलमय दिशा की ओर अग्रसर हों।

भाद्रपदा कृष्णा 5

2-9-96

8

आहार शुद्धि : साधना की प्रथम सीढ़ी

मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला उपासक भोगों से पराड्मुख होकर पंचमहाब्रत-रूप संयम अंगीकार करता है तथापि उसके सम्मुख देह परिपालन का प्रश्न उपस्थित रहता ही है क्योंकि बिना देह का यथावत् पालन किये संयम-साधना भी संभव नहीं है। कहा भी गया है—‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’, अर्थात् शरीर धर्माधान का प्रथम साधन है। इस प्रकार देह-साधन के बिना धर्म-साधन नहीं हो सकता। यह देह-साधन आहार के बिना संभव नहीं है और आहार के लिए उपासक को गृहस्थजनों पर आश्रित रहना पड़ता है। संयमियों के लिये इस श्लोक में यही कहा गया है—

धर्मे चरतः साधोलोके निश्रापदानि पञ्चापि।

राजा गृहपतिरपरः षट्काया गणशरीरे य॥

राजा, गृहस्थ, षट्काय, साधु समूह और शरीर-ये पाँच, साधु के आश्रय स्थान कहे गये हैं। अग्नि, जल, वायु, वन आदि की हिंसा किये बिना साधु आहार प्राप्त कर सके—इस हेतु गृहस्थजनों पर आश्रित रहकर विचरण करना पड़ता है। अतः इस आहार के संबंध में साधु को अत्यंत सतर्क रहने की आवश्यकता है क्योंकि आहार की शुद्धि और अशुद्धि का प्रभाव उसकी वृत्तियों पर पड़ता है और वृत्तियाँ साधना को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से आहार साधु की साधना को प्रभावित करता है।

शुद्ध आहार की उपलब्धि के संबंध में मार्गदर्शन हेतु प्रभु

महावीर के चरणों में एक प्रश्न उपस्थित किया गया—भगवन् भोजन कैसे किया जाए? प्रभु ने उत्तर दिया—‘जयं भुंजे’। यतना से भोजन करो। शरीर आहारधर्मी है, आहार मिलने पर इसमें चेतना का अर्थात् स्फूर्ति का संचार होता है पर यदि अति मात्रा में भोजन हुआ तो स्फूर्ति गायब हो जायेगी।

भोजन में जो पदार्थ ग्रहण किए जाते हैं, वे तीन प्रकार के होते हैं—(1) प्रीणनीय (2) प्रणनीय (3) मदनीय। साधक को चिन्तन करना है कि उसके लिए कौन-सा आहार उपयुक्त है। प्रीणनीय आहार से तात्पर्य उस आहार से है जिससे प्रसन्नता प्राप्त हो अर्थात् वह भोजन, जो प्रफुल्लता प्रदान करे। प्रणनीय आहार का संबंध पोषक तत्वों से होता है। भोजन ऐसा हो, जो शरीर का पोषण करे। खाद्य पदार्थ तो अनेक होते हैं पर उनमें पोषक कितने होते हैं और अपोषक कितने—इसका विवेक रखा जाना चाहिये। मदनीय आहार वह है जिससे मद बढ़ता है, आवेग बढ़ता है, वासना भड़कती है। यद्यपि भोजन की क्रिया तो एक है पर पदार्थों से और पदार्थ से भी अधिक महत्वपूर्ण है व्यक्ति की प्रकृति का स्वभाव। एक व्यक्ति के लिए रुक्ष आहार घातक हो सकता है, पोषक नहीं। वात प्रकृतिवाले के लिए रुक्ष या शीत आहार मदनीय हो जायेगा अर्थात् वासना बढ़ाने वाला बन जायेगा क्योंकि उससे वात प्रकुपित होता है। वह आहार उसे प्रसन्नता या पोषण नहीं दे सकेगा। आहार के साथ प्रकृति का तालमेल बैठना चाहिये क्योंकि उस आहार के साथ मन का भी संबंध जोड़ना होता है। दूध-दही एक के लिए अनुकूल हैं तो दूसरे के लिए प्रतिकूल हो सकते हैं। इस प्रकार प्रकृति के आधार पर चिन्तन करते हुए आहार का समन्वय किया जाना चाहिये। आहार विषयक ऐसा विवेक यतना है।

यतना के लिए आहार का उद्गम जानना भी आवश्यक है। दशवैकालिक सूत्र (५/१/५६) में कहा गया है—

उग्गमं से य पुच्छिञ्जा, कस्सद्वा केण वा कडं॥

साधु आहार के उद्गम के विषय में पृच्छा करें। ‘कस्सद्वा’ अर्थात् किसके लिए और ‘केण’ अर्थात् किसके द्वारा किया गया है।

विज्ञापन एवं प्रचार-प्रसार के आज के युग में इस संबंध में गहन अन्वेषण आवश्यक है। अखबारों में कई प्रकार के पदार्थों के संबंध में विवरण छपते हैं पर इनसे संबंधित अपेक्षित ज्ञान के बिना व्यक्ति असमंजस में पड़ जाता है। उदाहरण के तौर पर-साबूदाना के विषय में एक बार माहौल बना कि यह हिंसाजन्य पदार्थ है, महापाप से बनता है, अभक्ष्य है। परिणामस्वरूप बहुत-से लोग इसके उपभोग से अलग हटने लगे। जब यथार्थ स्थिति का अन्वेषण किया गया तो ज्ञात हुआ कि जहाँ इसका निर्माण होता है वहाँ स्थिति भिन्न प्रकार की होती है परन्तु इसके निर्माण में जो अनुपयोगी पदार्थ बाहर डाला जाता है उसके कारण बहुत से त्रस जीव पैदा हो जाते हैं। बाद में स्पष्टीकरण भी हुआ। अवशिष्ट पदार्थ से होने वाली हिंसा की प्रवृत्ति अविवेक एवं अयतना की परिचायक है पर जहाँ बड़ी-बड़ी फैक्ट्रीयाँ चलती हैं वहाँ श्रमिक काम करते हैं वे अहिंसा की महिमा नहीं जान सकते अतः वे जीव-रक्षा में तत्पर भी नहीं रह सकते। हम एक जगह से विहार करते हुए गुजर रहे थे। शुगर फैक्ट्री के पिछवाड़े से दुर्गंध आ रही थी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि जो अवशिष्ट पदार्थ बाहर डाला जाता है वह पड़ा-पड़ा सड़ता रहता है जिससे दुर्गंध आती है। पर दूध में चीनी लेते समय वह दुर्गंध हमारे ध्यान में नहीं आती। अतः साधकों के लिए पदार्थ का उद्गम जानने की बात है। अतः रसोई के उत्पादन की जानकारी के लिए पृच्छा करें, तब उसके उपभोग के सम्बन्ध में निर्णय करें कि यह आहार किसके लिए बनाया गया है? यह पूछना तो फिर भी ठीक है पर प्रभु ने संकेत दिया है 'केण' अर्थात् किसके द्वारा बनाया गया है—यह जानकारी भी अपेक्षित है। तर्क हो सकता है कि किसी के भी द्वारा बनाया जाय, उससे क्या अंतर पड़ता है? सत्य यह है कि उससे बहुत अंतर पड़ता है। एक रसोई नौकर बनाता है और एक सद्गृहिणी-दोनों की प्रकृति में अंतर होगा अन्यथा नीतिकार क्यों कहते और क्यों श्रीकृष्ण को गुरु से आशीर्वाद लेना पड़ता कि मैं माँ के हाथ की रसोई ग्रहण करूँ। माता भोजन ही नहीं परोसती बल्कि उसमें माँ का वात्सल्य भी मिश्रित होता है। वह वात्सल्य भाव शरीर का पोषण भी करता है और प्रसन्नता भी बढ़ाता है।

साधु जाने कि भोजन का निर्माण किसने किया है। बनाने वाली बहिन ही जान सकती है कि भोजन किसके लिए बनाया है। गाँवों में भिक्षार्थ भ्रमण करते समय किसानों के घर भी जाने का प्रसंग बनता है। साथ में दर्शनार्थी भाई भी दलाली में साथ हो जाते हैं और मन से ही कहने लगते हैं, इन्होंने अपने लिये बनाया है। यदि उन दर्शनार्थी भाई से पूछा जाय कि क्या आप पहले यहाँ आये थे? यदि नहीं तो फिर आपको कैसे मालूम? आप बोलने से विराम लीजिए और जब ग्रामीणों से पूछा जाता है तब ही सही बात सामने आती है। एक बार संत पानी लेने गए-पूछा पानी कैसा है? ‘महाराज! पानी गरम है’, कहकर बहराया। सन्त ले आए। पर जब पानी लाकर ढका गया तो ढकने वाले पात्र पर वाष्प नहीं आई तो सन्त पुनः गृहस्थ के घर गए। इस बार घर पर बहिन थी। पूछने पर बहिन ने श्रावकजी से प्रश्न किया—आपने कौन-सी मटकी से बहराया था? अमुक का संकेत करने पर बहिन ने कहा—अरे आज मैंने यहाँ कच्चे पानी का घड़ा रखा था, गरम पानी तो उसमें है। पानी यथार्थ में उष्ण किया गया था नहीं, इसे जानने के लिए पात्र में पानी लेकर ऊपर ढककन लगा कर देखा जा सकता है। अगर गरम किया हुआ होगा तो ढककन पर वाष्प उभर जायेगी। यह विधि पूज्य गुरुदेव की बताई हुई है। जानकारी के अभाव में ऐसी स्थितियाँ बनती हैं इसीलिए यथार्थ जानकारी साधु के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि गोचरी के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने वाले साधु के लिये यह प्रावधान किया गया है कि वह काल, बल, प्रमाण, क्षेत्र, अवसर, ज्ञानादि, विनय, स्वशास्त्र, परशास्त्र तथा अन्य के अभिप्राय को समझने वाला हो, कालानुसार क्रिया करता हो और अनासक्त तथा निष्पृह हो।

आज के संदर्भ में तो उत्पादन के लिए पूछना बहुत बड़ा अर्थ रखता है। पुराने जमाने में पदार्थ घर पर बनाये जाते थे। पर वर्तमान में व्यक्ति रेडीमेड, डिब्बों में पैक, होटल का माल पसन्द करता है। पर सोचिए, खोज करिए, इनका निर्माण कैसे होता है? एक बार ऐसे ही पिकनिक के प्रसंग से कई दोस्त मिलकर गये। मिठाइयाँ भी बनाई गई थीं। मिर्च-मसाले से जायकेदार भोजन तैयार हुआ था। सभी भोजन

करने बैठे। सहसा एक व्यक्ति ने भोजन करते समय भिंडी को देखा, अरे कितनी कड़ी है! पर ज्योंही मध्यम प्रकाश में देखने हेतु उसे पलटा तो-यह क्या? अरे, वह तो छिपकली थी, बघार लगाते समय गिर गई थी। ज्ञात भी नहीं हुआ, भोजन बन गया। यदि अंधेरे में पहला ग्रास भिंडी का ले लेते तो सोचिये, क्या स्थिति होती? इस प्रकार उद्गम जानकर आहार ग्रहण करने से कई दोष टल जाते हैं। आज बेकरी के बिस्किट के लिए भी संशय की अवस्था बनी हुई है, कई लोग कहते हैं कि इसमें दोष नहीं, कई लोग दोष बताते हैं। डेयरी के घी के संबंध में भी ऐसी ही चर्चा है-इसमें 15 प्रतिशत चर्बी मिलाई जाती है। यदि सही-गलत का अन्वेषण न किया जाय तो उस घी का उपयोग मन को प्रसन्नता नहीं दे सकेगा। सात्त्विक भोजन से प्रसन्नता मिलती है, तामसिक से नहीं। इसी प्रकार मांसाहार बुद्धि को जड़ करता है, आलस और क्रोध पैदा करता है। ये सभी अनुसंधान प्रभु के इस उपदेश की महिमा ही उजागर करते हैं-'जयं भुंजे'-यतना से भोजन करे। यही कारण है कि आराधक के लिये आहारादि की प्राप्ति के लिये जिस भिक्षावृत्ति का विधान किया गया है उसमें जो नियमोपनियम बताये गये हैं उनके अनुसार 42 दोषों से रहित भिक्षा ही साधु के लिये ग्रात है तथा माण्डला के पाँच दोष भी यालने चाहिएँ।

एक दृष्टांत लों। चक्रवर्ती सम्राट राजसभा में बैठे थे तभी एक ब्राह्मण उपस्थित हुआ और सम्राट के प्रति स्तुति-गान प्रस्तुत किया। सम्राट ने कहा-तुमने स्तुति की है, कहो क्या चाहिये? ब्राह्मण ने कहा-हुजूर! यदि वस्तुतः आप देना ही चाहते हों तो हम माँगे-कहीं आप निषेध तो नहीं कर देंगे? सम्राट ने कहा-विप्र! हमने तुम्हें वचन दिया है, माँगो। विप्र ने सविनय कहा-और तो कुछ नहीं चाहिए पर आपके लिए जो भोजन बनता है एक दिन वह हमारे पूरे परिवार को प्राप्त हो जाये-यही कामना है। सम्राट ने कहा-मेरे भोजन में से देने में मुझे एतराज नहीं पर वह आपके लिए हानिदायक हो सकता है। अतः और कुछ माँग लो। ब्राह्मण ने कहा-'सम्राट! आपने वचन दिया है अतः उसे पूर्ण करें। मैंने और तो बहुत अनुभव किये हैं। एक बार यह

अनुभव भी करना चाहता हूँ।' सप्ताष्ट के समझाने पर भी जब विप्र महोदय नहीं समझे तो ब्राह्मण परिवार को अन्ततोगत्वा सपरिवार राजसी भोजन कराया गया। चक्रवर्ती का आहार गरिष्ठ होता है इसलिए जो आहार राजा के लिए बनता है वह राजपिण्ड साधु को लेने से मना किया गया है। स्वादिष्ट आहार पाकर ब्राह्मण सहित सभी ने छक्कर खाया। घर पहुँचने पर हालात ऐसे हो गये कि सारा-का-सारा परिवार, मद-ग्रस्त हो गया। आवेग की स्थिति में वे कुकृत्य कर बैठे। काम वासना के अंधत्व में बहन, बेटी, माता का भी ध्यान न रहा। जब मद का प्रभाव कुछ कम हुआ तब सोचने लगे-अहो! हमने यह क्या कर लिया! ब्राह्मण तो शर्म से गड़ा जा रहा था। मुँह उठाने की हिम्मत भी उसमें न रही थी। लज्जाग्रस्त हो कर वह जंगलों में जाकर रहने लगा। अयतना से लिये गए आहार का यह परिणाम हुआ। साधु को आधारकर्मी आहार वर्जित है, वह संयमी जीवन को ध्वस्त करने वाला होता है। गरिष्ठ पदार्थों का उसके लिये निषेध किया गया है। आचारांग सूत्र में कहा गया है-बहुत बड़ा भोज होने वाला है तो वह साधु लालसा के वशीभूत होकर छकने के लक्ष्य से वहाँ गोचरी हेतु नहीं जाये।

आचार्यश्री श्रीलालजी म.सा. के समय की बात है। जयपुर में संत गोचरी हेतु पधारे। लगभग पाँच संत थे, एक जौहरीजी का घर दिखाई दिया। जौहरीजी भक्ति भाव से ले गए। एक छोटी-सी बटलोई थी। जौहरीजी ने छोटे चाय के चम्मच के माप से खिचड़ी बहराई। पूछा-आप कितने संत हैं? कहा-पाँच संत हैं। पाँच चम्मच बहराकर जौहरीजी ने कहा-और अनन्दाता? संत की समझ में नहीं आया कि क्या जबाब दें। सोचा होगा बड़ी हवेली है, ज्यादा घूमना नहीं पड़ेगा, गोचरी हो जायेगी। सेठजी तो पूछ रहे हैं-और अनन्दाता! संत के मन में उतार-चढ़ाव आने लगे। बिना मन के पात्रे समेटे। संत प्रस्थित हुए। श्रावक पहुँचाने आया और निवेदन किया-गुरुदेव, आप पहले खिचड़ी वापर लेना (खा लेना) फिर यदि जरूरत हो तो गोचरी हेतु उठना। संत ने सोचा-क्या वापर लें। दाँत के नीचे भी नहीं आयेगी! केवल परिमाण भी नहीं है। पर श्रावक के विनय, व्यवहार और श्रद्धाभाव पर मुग्ध हुए।

सोचा, चलूँ स्थानक में। पाँचों वापरने लगे पर इतनी-सी खिचड़ी उठाना (ग्रहण करना) भी भारी पड़ गया। प्रतिक्रमण के पश्चात् सभी ने तेले का प्रत्याख्यान कर लिया। दूसरे दिन श्रावकजी से पूछा-ऐसी क्या बात थी। श्रावकजी ने कहा-क्या करें, घर में अलग-अलग व्यक्तियों के अलग-अलग शौक होते हैं और शौक से बना ली गई। उस जमाने में उस खिचड़ी के लिए 500 रुपये खर्च हुए थे। आचार्यश्री श्रीलालजी म. सा. का स्वर्गवास लगभग 1977 में हुआ था, यह उससे पहले की अर्थात् 70 वर्ष से भी पहले की घटना है। इन वर्षों में रुपये का कितना अवमूल्यन हुआ है, हम सभी जानते हैं। आज उस खिचड़ी के खर्च का हिसाब कितना बैठेगा, आप सोच सकते हैं। उसमें जिन पदार्थों का समावेश होता है उन्हें थोड़ा-सा लेने में भी पेट भरा-भरा लगता है। आज औषधि की बात आती है। लोग उससे दवाई का तात्पर्य लगाते हैं पर साधु के लिए चौबीस प्रकार धन्य औषध है जो भूख की बीमारी को मिटाने वाला है। क्योंकि भूख भी वेदनीय कर्म का विपाक है। उसका विनाश औषध से किया जाता है। पदार्थों की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। एक अफीम होती है और एक अम्बर होता है। यद्यपि रूप दोनों का काला होता है पर गुणों में भेद होता है। अमीम एक स्थिति में यदि मारक हो सकती है तो एक स्थिति में साधक भी। अंबर की थोड़ी-सी मात्रा में स्फूर्ति आ जाती है, और टॉनिक की पूर्ति हो जाती है। आज भी वैसे पदार्थ मौजूद हैं। पदार्थों के उत्पादन को जानकर प्रकृति से संयोजित होने वाले धर्मों की तुलना करें। तुलनात्मक विवेक से प्रसन्नता प्रदान करने वाला आहार ग्रहण करें। केवल स्वाद और खुराक का पोषण करने के लिए नहीं क्योंकि वैसा आहार साधना का पोषण नहीं कर सकेगा।

भोजन तीन प्रकार का होता है उसी प्रकार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं-सात्त्विक वृत्ति वाले, राजसिक वृत्ति वाले और तामसिक वृत्ति वाले। जैसा भोजन किया जायेगा वैसे ही विचार बनेंगे। सात्त्विक आहार से सात्त्विक वृत्ति, राजसिक से राजसी और तामसिक से तामसी वृत्ति बनेगी। प्रभु ने आहार विवेक को हमारी वृत्तियों के साथ जोड़ा है-साधु छः कारणों से आहार ग्रहण करें, छः कारणों से छोड़ें।

1. क्षुधा वेदनीय को शांत करने के लिए, 2. सेवा करने के लिए 3. ईर्या समिति के शोधन के लिए 4. संयम की सुरक्षा के लिये 5. प्राणियों की रक्षा के लिए एवं 6. धर्म चिंतन के लिए। ये छः कारण आहार करने के हैं और छः कारण ही आहार त्याग करने के हैं, जैसे- 1. रोग के उत्पन्न होने पर 2. उपर्सग आने पर 3. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए 4. प्राणियों की रक्षार्थ तथा 5. तपस्या के लिए एवं 6. शरीर त्यागने के लिए। साधु सकारण आहार करता है न कि पेट भरने के लिये। पशु भी इतना विवेक रखते हैं कि वे पहले खाद्य सामग्री को सूंघते हैं। यदि वह ठीक नहीं लगती तो भले ही भूखे बैठ जायें पर भोजन नहीं करेंगे। फिर मनुष्य में इतना विवेक तो होना ही चाहिये। ऐसा नहीं कि जो सामने आया, खा लिया। विवेक नहीं रखा तो जैसे ब्राह्मण परिवार की वृत्तियाँ बिगड़ी थीं वैसे ही रसनेन्द्रिय का दास होने वाला उपासक साधना में तल्लीन नहीं हो सकेगा। बल्कि अपनी क्रियाओं को पतन की ओर उन्मुख कर लेगा। इसीलिये प्रभु ने यतना से भोजन करने का संदेश दिया है। यतना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसे ध्यान में रखकर प्रकृति व साधना के अनुकूल भोजन किया जाय तो हमारी साधना फलवती होगी, रसवती होगी और अमाप आनंद का संचार करेगी।

-भाद्रपद कृष्णा 6

3-9-96

9

भाषा समिति का महत्व

हम भगवान् की स्तुति करते हैं और भगवान् की कृपा के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। परन्तु यह स्तुति तब तक फलदायिनी नहीं हो सकती जब तक उसके साथ मन का योग न बने, काय योग का सहकार न जुड़े और वचन योग के माध्यम से भाषा प्रवाहित न हो। प्रभु महावीर के समक्ष भी एक प्रश्न आया था-भगवन्! कहं भासे? बोलना भी हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी भाषा होती है। पशु की भाषा पशु समझ लेते हैं। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से संबंधित मनुष्यों की भाषा का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। भाषा का उद्देश्य है मन के विचारों और भावों को अभिव्यक्ति देना। इस प्रकार अभिव्यक्ति के लिए भाषा मुख्य माध्यम है। यद्यपि विचार-सम्प्रेषण के लिए आज के वैज्ञानिक युग में मानसिक कल्पनाओं से भी प्रक्रिया उत्पन्न की जाती है और उसका प्रभाव भी होता है पर प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह संभव नहीं है। राजमार्ग के रूप में भाषा ही वह माध्यम बन सकती है जिसके द्वारा भाव या विचार सम्प्रेषित किये जायें। पर विचारणीय यह है कि भाषा कैसी हो? विचारों की अभिव्यक्ति के लिए विचारों के अनुरूप भाषा का ही चयन करना चाहिए।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी भाषा का अपना महत्व है और इसी दृष्टि से भाषा समिति का निरूपण किया गया है। यदि हमें नहीं बोलना है तो बहुत सुन्दर बात है, बोलने की आवश्यकता नहीं, तो मौन अर्थात्

अवचन उपयुक्त है और अवचन से ही प्रवचन प्रवाहित होता है। यदि प्रवचन देना है या कोई मार्के की बात कहनी है या हम चाहते हों कि हमारी भाषा प्रभावकारी बने तो उसके लिए अवचन अर्थात् मौन का माध्यम बताया गया है। प्रभु ने बताया है-बहुयं मा य आलवे-अर्थात् बहुत मत बोलो। इस प्रकार हमें अनुशासित किया गया है। तीर्थकर भगवान् जब तक सत्य को उपलब्ध नहीं कर लेते थे तब तक वे अधिकांशतः मौन रहते थे। अवचन की साधना से जब सत्य को उजागर कर लिया जाता है तब वह अवचन प्रवचन बन जाता है।

प्रश्न होता है-प्रवचन किसे कहा जाय? आजकल रूढ़ रूप में कुछ व्याख्या आदि को भी प्रवचन की संज्ञा दे दी जाती है। 'प्रवचन' शब्द सामान्य शब्द नहीं है, इसका अर्थ गहराई लिए हुए है। प्रवचन अर्थात्-प्रकर्ष। प्रकर्ष यानी-गहरा, लम्बा, दीर्घ, उड़ा वचन अथवा प्रशस्त वचन-और वह प्रवचन आगम वाणी है। प्रभु ने 'जयं भासे' का जो सूत्र दिया उस में प्रभु ने कितना गहरा अर्थ भर दिया है। जिसमें गहरा या प्रशस्त अर्थ नहीं वह प्रवचन नहीं, उसे व्याख्यान कहना उपयुक्त होगा। व्याख्यान अर्थात् वह कथन जिसमें व्याख्या की जाय। उसमें कितनी गहराई है इसका तोल-माप करने के बाद ही उसे प्रवचन कहा जा सकता है। प्रवचन के लिए अवचन की साधना आवश्यक मानी गई है। यदि एक व्यक्ति 12 वर्ष तक अनावश्यक न बोले, आवश्यक होने पर भी सत्य ही बोले, अधिकाधिक मौन भाव रखे तो उसे 12 वर्ष में वचन-सिद्धि प्राप्त हो जायेगी और फिर वह जो बोलेगा वह सत्य घटित होगा। प्राकृत व्याकरण में एक सूत्र आया है-'आर्षम्'। 'ऋषीणां इदं आर्षम्।' ऋषियों के द्वारा जो शब्द आया उसे 'आर्ष' कहते हैं। ऋषियों के मुख से स्वाभाविक रूप से जो शब्द निकल गया वह फिर व्याकरण की दृष्टि से घटित हो या न हो, उस पर फिर तर्क को अवकाश नहीं। जरा सोचें कि उस प्रकार के शब्द को महत्त्व क्यों दिया गया है? इसलिए कि वह ऋषियों के हृदय से निकला होता है और जिस अर्थ में उच्चरित हुआ होता है उसी रूप में प्रयुक्त होगा। ऋषियों की साधना के कारण वह शब्द सार्थक होगा ही।

इस संदर्भ में एक यथार्थ प्रसंग की ओर ध्यान जाता है। जलगाँव चातुर्मास में प्रवेश से पूर्व की संध्या को आचार्यदेव श्री ईश्वरचंद्रजी ललवानी की फैक्ट्री के विश्रामगृह में विराजे हुए थे। श्री ईश्वरचंद्रजी के पिताजी श्रीमान् शंकरलालजी ललवानी आये और बन्दन करने के बाद कुछ कहने लगे। मैं भी पास में खड़ा था। उन्होंने कहा- ‘मैं पूना जा रहा हूँ, प्रवेश में शामिल नहीं हो सकूँगा।’ उनकी पुत्री अचलादेवी पूना में तालेरा परिवार में व्याही हुई थी। ‘वहाँ से समाचार आये हैं कि उसे हार्ट की तकलीफ होने से अस्पताल में भरती कराया गया है।’ आचार्यदेव ने कहा कि उन्हें हार्ट की तकलीफ तो नहीं होनी चाहिए। शंकरलालजी विचारमग्न हो गये। समाचार आये हैं पर आचार्यदेव ऐसा फरमा रहे हैं। क्या करूँ, कैसे करूँ? घंटे-दो घंटे बाद उन्होंने वापस विचार किया, फोन से एक बार फिर समाचार पूछ लूँ। काले घोड़े जल्दी दौड़ते हैं। उन्होंने फोन पर पूछा- क्या स्थिति है? उधर से समाचार मिले- ‘चिन्ता जैसी बात नहीं है। डाक्टरों ने अच्छी तरह निदान कर लिया है हार्ट की तकलीफ नहीं है किन्तु कुछ वायु का प्रकोप है।’ उस समय आचार्यदेव ने जो उद्गार व्यक्त किये थे वे क्या चिन्तन करके व्यक्त किये होंगे? नहीं। महान् साधकों के मुख से स्वाभाविक रूप से जो बात निकल जाती है वह यथार्थ में घट भी जाती है। ऐसी अनेक घटनाएँ हैं। पर वचन इस प्रकार फलित हो सके इसके लिए वचन की साधना करनी होती है और साधना कथ्य अथवा शब्द को ही नहीं अक्षर तक को मंत्र बना देती है। कहा भी गया है-

**अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषेनास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥**

अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं जो मंत्र न हो, ऐसा कोई मूल (जड़) नहीं जो औषधि न हो, ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जो योग्य न हो, योजना करने वाला दुर्लभ है। इस प्रकार मुख्य बात योजना की है-शब्द योजना की, वचन-व्यवहार की। इस वचन व्यवहार की कितनी महिमा है, इसी का संकेत देने के लिए ही प्रभु ने कहा है-‘बहुयं मा य आलवे’-ज्यादा न बोलें। ज्यादा बोलने से शक्ति का हास होता है।

निरन्तर प्रवाह चलता रहा तो वचन-योग क्षीण होगा। प्रभु ने बोलने का निषेध नहीं किया है पर जितना बोलने से हमारा कार्य चल जाए उतना ही बोलने का निर्देश दिया है।

भाषा समिति का निर्देश करते हुए कहा गया है कि कर्कशकारी, कठोरकारी, हिंसाकारी, निश्चयकारी, छेदकारी, भेदकारी, परजीवपीड़कारी, सावद्य-सपापकारी भाषा नहीं बोलें। क्रोध और अहं के वशीभूत होकर न बोलें, क्योंकि क्रोध और अहं से जो उच्चरित होगा वह सत्य नहीं होगा। भाषा चार प्रकार की कही गई है—सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार। इनमें से सत्य और व्यवहार भाषा का प्रयोग करता हुआ साधक अपनी साधना से च्युत नहीं होता और एक सद्गृहस्थ भी अपनी सद्भावना से विचलित नहीं होता। आज व्यक्ति मानता है कि सत्य से काम नहीं चल सकता, लेकिन यथार्थ यह है कि सत्य के बिना काम नहीं चल सकता। पूज्य गुरुदेव प्रवचन में फरमा रहे थे—यदि असत्य के बिना काम नहीं चल सकता तो आप एक दिन दिनभर सत्य बोलने की सौगंध ले लीजिए। आप घर पहुँचेंगे। श्रीमतीजी कहेंगी—‘भूख लगी है तो भोजन परोस दूँ?’ और आप असत्य कह दें कि भूख नहीं लगी है तो आपका काम नहीं चलेगा। सत्य के आधार पर ही असत्य टिक सकता है। असत्य स्वतंत्र रूप से टिक नहीं पायेगा। बोलने के संबंध में कहा गया है—

बोली तो अमोल है, जो कोइ बोले जान।

बोली का मूल्य नहीं, वह अमोल है। पर कैसे बोलें—यह जानना होगा। एक वचन से कलेजा ठंडा हो जाता है तो एक से जल-भुन जाता है। एक वचन भीतर से खून खौला देता है, एक निढ़ाल कर देता है। मंत्रों का प्रयोग किया जाता है पर मंत्र हैं क्या? वे भी वचन का ही एक रूप हैं। एक मंत्र जीवन को सरसब्ज करता है तो एक मंत्र मारक भी होता है। ध्वनि से आज अनेक रोगों की चिकित्सा भी की जा रही है परन्तु जिन विविध रूपों में और जिस व्यापक स्तर पर ध्वनि का उपयोग हो रहा है वह सामान्य जनों के लिये ही नहीं, वैज्ञानिकों एवं पर्यायवरणविदों के लिये भी चिन्ता का विषय बन गया

है। अब तो प्रदूषण के रूप में यह ध्वनि सिरदर्द बन गयी है। भारतीय आयुर्वेद शोध संस्थान ने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की है जिसमें बताया गया है कि जिस डेसीबेल के स्तर पर ध्वनि बढ़ती जा रही है यदि उसी रूप में बढ़ती रही तो मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ जाएगा।

47 डेसीबेल पर व्यक्ति की श्रवण शक्ति सुनने में सहज तत्पर हो जाती है पर कल-कारखानों, फैक्ट्रियों, मशीनों, वाहनों, यंत्रों, प्लेन आदि की आवाजें इस स्तर में भीषण रूप से वृद्धि कर देती हैं। आचार्यदेव (श्री नानेश) जब शांताक्रुज (मुम्बई) में विराजे हुए थे तब वहाँ लगभग हर 10/15 मिनट के अन्तराल से वायुयानों के गमनागमन की तीव्र ध्वनि आती थी। उस भयंकर गूंज में धीरे-से बोली गई बात तो कान सुनने को तैयार ही नहीं होते थे। शोध संस्थानों का निष्कर्ष है कि यदि समय रहते इस भीषण ध्वनि-प्रदूषण पर रोक न लगाई गई तो अनेक बीमारियाँ फैलेंगी क्योंकि ध्वनि का सबसे पहले मन पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का स्वभाव चिढ़चिड़ा हो जाता है। उसे चैन नहीं पड़ती। बेचैनी बढ़ने से वह उच्च रक्तचाप का शिकार हो जाता है। यह रक्तचाप आगे बढ़कर हृदय पर आघात करता है। इस स्थिति पर शोध कर निष्कर्ष निकाला गया है कि यदि शोर बढ़ने की यही रफ्तार रही तो आने वाली सातवीं पीढ़ी बहरी हो जाएगी। व्यक्ति की श्रवण शक्ति वैसे ही औसतन कम होती जा रही है। धीमी आवाज यह सुन नहीं पाता। बात-चीत के रूप में ध्वनि मनुष्य के जीवन को खतरे में डाल सकती है। महाभारत वचन के अविवेकपूर्ण प्रयोग का परिणाम बना था। द्रौपदी के शब्द ‘अंधे के पुत्र अंधे ही होते हैं’-दुर्योधन को तीर की भाँति चुभ गये थे। उसके मन में संकल्प ले लिया कि इस अपमान का बदला लेकर दिखाना है कि अंधे के पुत्र अंधे कैसे होते हैं। दुर्योधन ने चालवश जुआ खेला। धर्मराज ने सारी सम्पत्ति दाँव पर लगा दी। यही नहीं, पाँच भाइयों सहित द्रौपदी को भी दाँव पर लगाने में नहीं झिल्लिको। अब शकुनि ने अपना रंग दिखाया, पासे ऐसे पड़े कि धर्मराज हारते गये। दुर्योधन आनंद मनाने लगा। द्रौपदी को चोटी से पकड़ कर घसीटते हुए राजसभा में लाया गया। दुर्योधन ने अपनी जंघा अनावृत कर दी और

कहा-इस पर बैठो। द्रौपदी के तन-बदन में आग लग गई-दुष्ट, क्या बोल रहा है? इतने सारे बुजुर्ग उपस्थित हैं, बोलने की तमीज है या नहीं? द्रौपदी को तो विदित नहीं था परन्तु दुर्योधन को साबित करना था कि ये अंधे के पुत्र अंधे नहीं, बहरे भी हैं। बहरे कैसे? ये सारी बात धृतराष्ट्र आदि सुन रहे थे इसके बावजूद वे कुछ नहीं कर सके। उन्होंने अपने मुँह ढँक लिये, पर प्रतिकार नहीं किया। भीम गदा घुमाते हुए उठे और प्रतिज्ञा की कि दुर्योधन के इस अपमानजनक व्यवहार का बदला दुर्योधन की जंघा को इस गदा से तोड़कर लूँगा। इस प्रकार वचनों की श्रृंखला से ही वैर बढ़ गया था, वैर का अनुबंध पड़ गया था जो अंतः महाभारत में परिणत हुआ। इसीलिए प्रभु कह रहे हैं-यतना से बोलो-सत्य बोलें, प्रिय बोलें। कहा जाता है कि सत्य कड़वा होता है पर याद रखिये सत्य कड़वा नहीं होता हमें कड़वा लगता है। मलेरिया है तो गेहूं की रोटी और पानी कड़वे नहीं होते। कड़वापन तो हमारे भीतर होता है। इसी प्रकार सत्य भी कटु नहीं होता। सती राजमती के शब्द-

धीरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीवियकारण।
वंतं इच्छसि आवेतं, सेयं ते मरणं भवे॥

दशवे 1/6

आप कहेंगे ये कठोर हैं, पर कठोर नहीं सूक्ष्म वचन हैं। शास्त्रकार राजमती के इन वाक्यों को ‘सुभाषियं’ कहते हैं। अर्थात् सुभाषित वचन। भावों में छल, प्रपञ्च नहीं है। सत्य के पीछे यदि छल, प्रपञ्च है तो वह सत्य नहीं रहेगा। क्रोध के नशे में क्या बोला जाता है इसका भान नहीं रहता। यह शराब का नशा नहीं है। हमारे भीतर की रासायनिक प्रक्रिया है। स्थानांग सूत्र में आत्मा को ‘अनात्मा’ कहा गया है जब वह कषायों के अर्थात् पौद्गलिक प्रभाव में होती है। एक व्यक्ति यक्षाधिष्ठित हो जाता है तो यक्ष के प्रभाव से भाषा उसी के अनुरूप हो जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशी मुनि का ब्राह्मण के प्रति कथन इसका प्रमाण है। मुनि ने कहा-यह मैं नहीं कह रहा हूँ, मेरी वैयावच्च करने वाला तिंदुक वृक्षवासी यक्ष कह रहा है। मुनि मौन थे, वह बोल रहा था। कषायों के आवेग में आत्मा सुप्त हो जाती है। जो

कटु अथवा कर्कश वचन निकलते हैं वे सत्य नहीं होते और यतना-युक्त भी नहीं होते। भाषा समिति में समित वचन ही यतनामुक्त होते हैं। साधु को कर्कश, कठोर आदि आठ प्रकार के वचन नहीं बोलना चाहिये। आचारांग सूत्र में कहा गया है—जंगल में मुनि विहार करते हुए यह न कहें कि यह विशाल वृक्ष है—इसकी लकड़ी से पाटे, दरवाजे, तख्ते, बन सकते हैं। आप पूछेंगे—वनस्पति के कान होते हैं क्या? हम ऊपर से नहीं देख रहे हैं पर उसमें भी पाँच भावेन्द्रियाँ हैं और वैज्ञानिकों ने सिद्ध भी किया है कि उनमें इन्द्रियाँ हैं। अपनी प्रशंसा से वनस्पति प्रफुल्लित होती है, निन्दा से सिकुड़ जाती है। प्रयोग किया गया। छः व्यक्तियों को कागज का टुकड़ा देकर कमरे में भेजा गया। सब एक चिट खोलते और कमरे से बाहर निकल जाते। एक व्यक्ति की चिट पर लिखा था—‘इन पौधों में से एक को तोड़ो—मरोड़ो, नष्ट-भ्रष्ट कर दो।’ उसने वैसा ही किया। बाद में वैज्ञानिक बैंकस्टन स्वयं उस कमरे में गये तथा सुरक्षित पौधे के एक यंत्र लगा दिया। फिर एक-एक व्यक्ति को कमरे में बुलाया गया। जैसे ही एक पौधे को नष्ट-भ्रष्ट करने वाला व्यक्ति कमरे में घुसा, दूसरे पौधे में कम्पन होने लगा जो यंत्र पर उभरने लगा। इस प्रयोग से उस वैज्ञानिक ने ज्ञात कर लिया कि छः व्यक्तियों में से किसके पास वह चिट पहुँची थी जिस पर पौधे को नष्ट-भ्रष्ट करने का निर्देश था। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि वनस्पतियों में संवेदनशीलता होती है। प्रभु भी कह रहे हैं—वचन सम्प्रेषण से भावेन्द्रिय के कारण उसमें संक्लेश होता है। सावद्य सपापकारी भाषा वर्जित है। साधु के लिए कहा गया है—साधु सोहंता अमृत वाणी।

और जब भाषा विवेक जुड़ जाता है तब वचन में गहराई आ जाती है। ऐसा प्रवचन पूरी मानवता और साधुता का रस बन जाता है। अतः इस एक सूत्र को हृदय में बैठा लें—

एक वचन श्री सतगुरु केरो, जो पैठे दिल मांय रे प्राणी।
नरक निगोद माँ ते नहीं जावे, एम कहे जिनराय रे प्राणी॥

हमारे सामने प्रश्न आ सकता है कि 11 अंग कैसे पढ़ें, पढ़ेगा कौन? व्यासजी ने भी 18 पुराण रचे और राजा के सामने रख दिये।

राजा ने भी कहा-पढ़ेगा कौन? संक्षिप्त करो। उन्होंने 8 पुराण कर दिये। आदेश हुआ और संक्षिप्त करो। तो एक पुराण रख दिया। फिर एक अध्याय और अंत में एक श्लोक में सार भर दिया-

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचन द्वयां।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

पाप-पुण्य को समझने का सरलतम, संक्षिप्ततम मार्ग बता दिया। फिर कोई समस्या नहीं, उलझन नहीं। अतः यह समझ लें कि जो भाषा विवेकयुक्त है, सीधी-सरल है-जिस भाषा के पीछे प्रपञ्च नहीं, बुरे भाव नहीं, वही भाषा उपयुक्त है। इस्लाम में भी कहा गया है-भाषा को बाहर निकालना है तो उसे 3 दरवाजों से गुजारो। तीन पहरेदार बयान लें, तभी वह बाहर आये। पहला दरबान पूछे-‘क्या यह सत्य है?’ यदि हाँ, तो उसे आगे बढ़ायें। दूसरा दरबान पूछे-‘क्या बोलना आवश्यक है?’ और तीसरा दरबान पूछे-‘क्या बोली जाने वाली भाषा नेक है?’ सत्य, आवश्यक और ‘नेक भाषा को ही बाहर जाने की इजाजत दें। इस रूपक को भी समझ लें। कंठ, तालु और होंठ-ये तीन दरबान हैं जिन से पूछकर ही संभाषण के भवन में प्रवेश करें। इस आवश्यकता की पूर्ति के बाद यदि आप संभाषण-भवन में प्रविष्ट होंगे तो आपका समुचित सत्कार किया जायेगा परन्तु यदि आप ने पहरेदारों के आदेश की अवहेलना की तो आप संभाषणकर्ताओं के बीच उपेक्षा उपहास और अपमान का पात्र ही बनेंगे। आप व्यवहार में शिष्टाचार और भाषा में माधुर्य का समावेश करेंगे तो आप की उपस्थिति अमृत-रस का वर्षण करेगी और वह प्रत्येक के जीवन को प्रफुल्लित करेगी। इस स्वरूप को समझकर हम अपनी साधना को आगे बढ़ायें तो जीवन भी मंगलमय होगा।

-भाद्रपद कृष्णा 7

4-9-96

10

जन्मे ज्ञान संतान

श्री सुपार्श्वजिन वंदीए, सुख सम्पति नो हेतु, ललना।
शांत सुधारस जलनिधि, भवसागर मां सेतु। ललना॥

मनुष्य का मन सुख की कामना में प्रवर्धमान रहता है। सुख की उसकी लालसा एवं अभिलाषा सदा बनी रहती है। लेकिन सुख कहाँ है? सुख किसमें उपलब्ध हो सकता है? आज का मानव सम्पत्ति को सुख का हेतु समझता है और उसकी चाह करते हुए उसे पाने के लिए न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है। कवि ने प्रार्थना में संकेत दिया है—

श्री सुपार्श्व जिन वंदीए सुख सम्पत्ति नो हेतु ललना॥

यहाँ जिस सुख-सम्पत्ति का संकेत है वह इधर-इधर कहीं नहीं मिलेगी। इधर-उधर घूमते रहे तो ठोरकें तो खानी ही पड़ेंगी, सही ठिकाना भी नहीं मिल पायेगा। ठिकाना सदा विस्मृत रहेगा। ठिकाना भूलने के कारण ही इधर-उधर की ठोकरें खानी पड़ती हैं। पर यह ठिकाना है कौन-सा? परमात्मा ने, तीर्थकरों ने कहा है, ठिकाना है—धर्मरूप द्वीप। द्वीप के चारों ओर जल है, जलाकार समुद्र है। जैसे जम्बू द्वीप यह जम्बूद्वीप भी समुद्र के बीच में है इसलिए इस द्वीप कहते हैं। वैसे प्रभु ने धर्म को द्वीप कहा है :

जरामरणवेगेण, बुज्ज्ञमाणाण पाणिणं।
धर्मो दीवो पद्मद्वा य, गई सरणमुत्तमं॥

जरा और मरण के प्रवाह में डूबते प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, आधार है, गति है और उत्तर शरण है। यदि इस कथन का आश्रय ही ग्रहण कर लें तो हम पानी में डूबेंगे नहीं, सुरक्षित रह सकेंगे। आप प्रबुद्ध हैं और आपने अनेक बार सुना होगा कि यह जो भवोदधि (संसार सागर) है इसमें विषय-वासना का कीचड़ एवं दूषित जल भरा हुआ है। एक बार व्यक्ति यदि उसमें फँस जाता है तो जब वह एक पैर उठाता है तो दूसरा पैर धँसता चला जाता है। निश्चित मृत्यु के ऐसे समय में धर्मरूप द्वीप हमारी रक्षा कर सकता है, हमें उबार सकता है। कवि ने कहा है-उस धर्म के श्रुत और चारित्र रूप चरण युगल में वंदन कर। वंदन से तात्पर्य उस नौका से है जो द्वीप तक पहुँचा सकती है। उस नौका को ग्रहण कर। चरण के प्रति यदि आकर्षण बढ़ा तो धर्म द्वीप में प्रवेश होगा।

श्रीसुपाश्वर जिन वर्दिए प्रार्थना में एक बात विचित्र दिखाई दे रही है-‘सुख सम्पत्ति नो हेतु....।’ क्या तीर्थकर की वंदना सुख-सम्पत्ति देने वाली है? आगमों में बतलाया गया है कि तीर्थकर की सेवा, भक्ति, उपासना से आत्मा निर्मल होती है, कर्म दूर होते हैं। फिर यहाँ उसे सुख-सम्पत्ति का हेतु कैसे निरूपित किया गया है? व्यक्ति ने जो सुख मान लिया है, यर्थाथ में वह सुख नहीं है। यहाँ जिस सुख का संदर्भ है उसके पीछे दुःख की कालिख नहीं है। किसान वर्षा की प्रतीक्षा करता है, वर्षा होने पर खुश होता है और मनुष्य की खुशहाली मनाता है। परन्तु यदि यही वर्षा भी लगातार 8-10 दिन चलती रहे तो लोग ऊब जाते हैं और चाहते हैं कि अब थोड़ा उघाड़ हो, कडक धूप निकले तो वस्त्र, अन्न, भोज्य पदार्थ, जो सीले-सीले लग रहे हैं उनकी सीलन दूर हो। वर्षा नहीं हुई तो वर्षा की चाह थी, वर्षा हो गई तो अब उघाड़ होने की भावना बनने लगी। वस्तुतः संसार में जिसे सुख माना गया है, वह एकान्त सुख नहीं है। एकान्त सुख तो ‘एगंत सोक्खं समुवर्द्ध मोक्खं’ मोक्ष में ही मिल सकता है क्योंकि जिन अवस्थाओं में सुख माना जाता है उनके हटते ही यदि दुःख होने लगें तो माना जायेगा कि वे अवस्थाएँ सुख की नहीं थीं। और संपत्ति? हमारी दृष्टि बाह्य,

भौतिक सम्पत्ति, पुद्गल और पैसे पर ही टिकती है। अमरकोष में ‘भग् धातु से तात्पर्य है—ऐश्वर्य, सम्पन्न, उसे भगवान कहा गया है। ऐश्वर्य ‘श्री’ का ही द्योतन करता है। ‘श्री’ का अर्थ लक्ष्मी है। तीर्थकरों के साथ अथवा धर्म पुरुषों के साथ हम श्री का प्रयोग करते हैं—श्री हुक्मीचंद्रजी म.सा। बीच में यह ‘श्री’ क्यों आ गई? क्या वे लक्ष्मीवान थे? उनके पास सम्पत्ति थी? नहीं, मात्र बात पौद्गलिक लक्ष्मी ही लक्ष्मी नहीं है। ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि की सम्पन्नता भी भाव-लक्ष्मी है। इसलिये जो उस भाव-लक्ष्मी-रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं उनके साथ भी श्री शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐश्वर्य की दृष्टि से चिन्तन करें तो अरिहन्त से बढ़कर कोई ऐश्वर्य-सम्पन्न नहीं हैं क्योंकि वे अन्तराय कर्म क्षय कर चुके होते हैं इसलिए उनकी अनन्त शक्ति व अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्नता में न्यूनता नहीं आ सकती। यदि भाव-लक्ष्मी प्राप्त कर ली जाती है तो बाहर की लक्ष्मी अपने आप दौड़ी आती है। जब तीर्थकर राज्य-लक्ष्मी का त्याग करते हैं तो अनेक राज्य उनके चरणों में लौटने लगते हैं। क्यों? इसलिए कि उन्होंने त्याग किया होता है। दिव्यलोक के देव अपने आनन्द में निमग्न साता का अनुभव करते हैं। वे मृत्युलोक में आना नहीं चाहते, उसकी गंध से भी दूर रहना चाहते हैं। पर जब इस धरा पर तीर्थकर अवतरित होते हैं, विचरण करते हैं तब वे देव भी यहाँ आने को लालायित होने लगते हैं। क्या मिलता है उन्हें उन चरणों में? जो मिलता है वह देवलोक में उपलब्ध नहीं होता इसलिए वे उन चरणों में पहुँचते हैं। संतों के लिए कहा जाता है कि धन्य हैं वे ग्राम, नगर, क्षेत्र जहाँ भावितात्मा अणगार विचरण करते हैं एवं विराजते हैं। उन्हें धन्य क्यों कहा है? इसलिए कि वे आभ्यंतर लक्ष्मी से संयुक्त हो जाते हैं।

आज जनमाष्टमी है। इस दिवस का संबंध भी इसी प्रकार की सम्पन्नता की महिमा से जुड़ता है। इस सम्पन्नता के केन्द्र अथवा आधार हैं कृष्ण। तनिक चिन्तन करें कि कृष्ण कौन हैं? मात्र देवकी के लाल नहीं हैं। उनकी महिमा भिन्न कारण से है—आतंक, अत्याचार, शोषण, पीड़न, दासता आदि के विरुद्ध सफल संघर्ष करने के कारण। वह भी आज जैसा समय था। आज भी आतंकवाद के नाम से व्यक्ति थर्रा जाता है। हमने गुलामी को सहन किया है। हम जानते हैं कि गुलामी क्या होती

है? शासकों के कैसे-कैसे जुल्म झेलने होते हैं और व्यक्ति प्रतिकार नहीं कर सकता। क्योंकि प्रतिवाद करने पर कोड़े लगाये जा सकते हैं, यहां तक कि खुले फाँसी पर लटकाया भी जा सकता है। ऐसी ही भयंकर स्थिति थी जब कृष्ण का जन्म हुआ था। जनता त्राहिमाम्-त्राहिमाम् पुकार रही थी-कोई हमारा रक्षण करो। आज भी स्थिति बदली नहीं है रक्षक भी शोषण, उत्पीड़न में आनंद मान रहे हैं। नारकीय दृश्य आगमों में हमें पढ़ने को मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि परमाधामी देव नारकियों को कैसे-कैसे कष्ट देते हैं? उत्तराध्ययन सूत्र के 19 वें अध्ययन में भी इस संबंध में विस्तृत कथन हुआ है। मृगापुत्र कहता है-मैंने अनेक बार वहाँ दारूण दुःख अनुभूत किये हैं। कितनी वेदना! खौलते तेल के कड़ाह में वे नेरिये उछल-कूद करते हैं और परमाधामी देव उसमें आनंद मानते हैं। कंस भी इसी प्रकार के दारूण दुःख प्रजा को दे रहा था और हुंकार लगा रहा था-मैं ईश्वर का अंश हूँ, मेरे माध्यम से ईश्वर अवतरित हुआ है। मैं जो कहता हूँ वही नीति है, वही धर्म है। जरासंध, दुर्योधन आदि भी जनता को विविध प्रकार से उत्पीड़न कर रहे थे। कृष्ण तो पहुँचे थे दुर्योधन के पास संधि का प्रस्ताव लेकर और पाण्डवों के लिए पाँच गाँव मांगे थे। पर दुर्योधन पाँच गाँव तो क्या, सुई की नोक के बराबर भूमि देने को भी तैयार नहीं था। मैं वे सारे दृश्य उपस्थित नहीं कर रहा हूँ सिर्फ उनका संकेत दे रहा हूँ। कथा हमने सुनी है पर कथा सुनने से गर्ज नहीं सरेगी, कथा के हार्द को समझना होगा। अन्याय, अनीति और अत्याचार के रूपों को समझना होगा तभी हमें पता चलेगा कि कृष्ण का जन्म कैसी स्थिति में हुआ था? उसका भी कारण था। कंस ने अपने पिता उग्रसेन को कैद कर लिया था और स्वयं राजसिंहासन पर आसीन हो गया था। इस बुद्धि-कौशल पर मुआध होकर जरासंध ने अपनी पुत्री जीवयशा का कंस के साथ विवाह कर दिया था। जो दुरात्मा होते हैं वे ऐसे ही सहयोगियों के साथ गठबंधन करके दुनिया में त्रास फैलाते हैं। कंस, जरासंध, दुर्योधन, शिशुपाल, रूक्मकुमार आदि ऐसे व्यक्तियों से पृथ्वी भारी हो रही थी और चाह रही थी कि उसका भार हल्का हो। कंस के इस भीषण अत्याचार को देखकर छोटे भ्राता ने विचार किया कि ऐसे अन्यायी के साथ रहकर उसकी अनीति में सहभागी बनना पड़ेगा।

और मैं अपना कल्याण नहीं कर पाऊँगा। वे साधु बन गये। परिभ्रमण करते हुए एकदा मथुरा में आये और राजमहलों की ओर भिक्षार्थ चले गये। महलों में जीवयशा ने उपहास किया—‘देवरजी! आप तो साधु बनकर निर्लज्ज हो गए पर हमें लज्जा आती है। राजघराने में जन्म लेकर दर-दर भिक्षा के लिए घूम रहे हैं। एक भाई तो सप्त्राट है और दूसरे की यह दशा कि वह टुकड़ों के लिए घर-घर फिर रहा है। वेष छोड़िये। आपके लिए अलग भवन की व्यवस्था कर दी जायेगी। देवरानी भी मैं ला दूँगी। नौकर-चाकर सेवा में घूमेंगे।’ एक कथा यह भी है कि तपस्वी मुनि बन कर वे भिक्षार्थ गये तो गाय से टक्कर हो गई और वे गिर पड़े। जीवयशा ने यह देखा तो कहा—एक समय था जब आप अपनी भुजाओं का बल दिखाने में समर्थ थे। आज साधु बन गये तो कायर हो गये! गाय से टकरा कर भूमि पर गिर पड़े। आओ, राजमहलों में सुखोपभोग करो। यह सुनकर मुनि अतिमुक्तककुमार को आवेश आ गया—नहीं आना चाहिए था। साधु को क्रोध, मान, माया और लोभ में भी नहीं आना चाहिए। उसे विवेक बरतना चाहिए, पर आवेश आ गया। कभी-कभी भवितव्यता का योग होता है, टल नहीं पाता। प्रभु महावीर ने अपने शिष्यों से कहा—‘गोशालक आयेगा और मेरे विषय में अनर्गल प्रलाप करेगा। तुम सभी सावधान रहना। कोई भी प्रतिकार या वाद-विवाद मत करना।’ सभी ने मौन धारण कर लिया। गोशालक आया और प्रभु पर गालियों की बैछार करने लगा, पर मुनि चुप थे। कहा भी है—

देतां गाली एक है, पलट्यां होत अनेक।
जो गाली पलटे नहीं तो रहे एक की एक॥

गोशालक का जोश ठंडा पड़ने लगा। पर दो मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति चुप नहीं रह सके। उन्होंने गोशालक का प्रतिकार किया। गोशालक तो यही चाहता था। तेजोलेश्या भभकी और गोशालक ने मुनि द्वय को भस्मीभूत कर दिया। हम सुनते आये हैं कि तीर्थकर के समवसरण में पच्चीस योजन तक दुर्घटना नहीं होती, ईति-भीति का प्रकोप नहीं होता पर भगवान के सामने ही यह घटित हो गया। कोई कहे अनुकम्पा में धर्म होता तो प्रभु ने रक्षा क्यों नहीं की? अनुकम्पा की बात जानें दें, विहार करने में तो दोष नहीं था। भगवान ने उन्हें विहार क्यों

नहीं करा दिया? भगवान जानते थे, इनकी ऐसे ही आराधना होने वाली है। भवितव्यता टल नहीं पाती। अघटित घट जाता है। ऐसा ही मुनि अतिमुक्तक के साथ भी हुआ। उन्हें क्रोध नहीं आना चाहिए था, पर आ गया। उन्होंने कहा-हे जीवयश! आज तू बड़ी-बड़ी बातें बना रही है, जिस देवकी के तू बाल संवार रही है उसी देवकी का लाल तुझे वैधव्य दुःख देगा, और तेरे पति और पिता के वंश का नाश करेगा। तू सोच क्या रही है? जीवयशा घबरा गई। ये क्या सुन रही हूँ? वह उदासी में घिर गई। कंस आये। उन्होंने उसे उदास देखा तो पूछा-‘क्या बात है प्रिये! उदास क्यों हो?’ जीवयशा ने उत्तर दिया-‘मैं ही जान रही हूँ पर कहते हुदय मुँह को आता है, कहा नहीं जाता।’ कंस ने सिर पर हाथ फैरते हुए कहा-‘घबराओ मत, अपनी व्यथा कहो।’ जीवयशा ने अपने मन की पीड़ा व्यक्त कर दी-‘आपके भाई, मेरे देवर आज भिक्षार्थ आये, मैंने उनका उपहास कर दिया।’ तदुपरान्त उसने बता दिया कि उन्होंने क्या कहा था। कंस ठहाका मार कर हंसे-‘अरे, इन साधु-संन्यासियों की बात जाने दो। ये दुनिया को ठगते रहते हैं। यदि कहा भी है तो मैं देवकी को ही समाप्त कर देता हूँ। यह अपना सौभाग्य है कि आगे आने वाली घटना की भनक मिल गई। देवकी का काम ही तमाम कर दूँगा बस, ना रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।’

कंस राज्यसभा में पहुँचा उस समय ज्योतिषी आया हुआ था। यद्यपि कंस को ज्योतिष पर विश्वास नहीं था पर फिर भी उसने सोचा, पूछ तो लूँ। ज्योतिषी ने जब अपने ज्ञान का प्रदर्शन किया तो कंस ने प्रश्न किया-‘बताओ मेरी मृत्यु कहाँ, किसके हाथ होगी?’ ज्योतिषी ने अपना गणित लगाया और उत्तर दिया-‘आपके ही घर में जन्म लेने वाला दिव्य पुरुष आपका घातक है। वह गोकुल में पलेगा। उसे मारने के प्रयास विफल होंगे और उसकी शक्ति को ही बढ़ायेंगे।’ कंस ने कहा-‘मुझे कोई नहीं मार सकता। आज ही तुम्हें जेल में डालता हूँ और जो मुझे मारेगा, वही तुम्हें मुक्त करेगा।’ पौराणिक कथा में कहा गया है-यह संवाद कंस और नारद ऋषि के बीच हुआ था। कंस क्रोधित हुए तो नारद ने कहा-‘क्रोध क्यों करते हो, क्रोध से सफलता नहीं मिलेगी। मैं तो चेताने आया हूँ कि अनैतिकता का त्याग कर दो, पाप का घड़ा

फूटने वाला है।' कंस ने कहा-'जाइये, जाइये। अपनी भविष्यवाणी अपने ही पास रखिये।' परन्तु कंस डर गया था अतः देवकी को समाप्त करने की योजना बनाने लगा। उसने मंत्रिमंडल के सदस्यों से परामर्श भी किया। मंत्रियों एवं मित्रों ने परामर्श दिया कि इस प्रकार अबला पर हाथ उठाने से जग में आपकी अपकीर्ति होगी और लोग कहेंगे कि बच्चे के भय से बहन को मार दिया। बच्चे की क्या ताकत? परन्तु कंस बच्चे की शक्ति से डर गया था। कंस की समझ में बात आ गई। नीति और धर्म की बात जमती या नहीं जमती पर अपयश के भय से बात जम गई। कंस ने विचार किया और देवकी के विवाह के लिए वसुदेव का चयन किया। वसुदेव से उसकी घनिष्ठता थी। एक बार सेवा प्रसंग से कंस ने वसुदेव को खुश कर दिया। वसुदेव ने कहा-क्या चाहते हो? कंस ने प्रस्ताव रखा-मेरी इच्छा है कि मेरी बहन का प्रसव मेरे घर मथुरा में हो। संतान अपने ननिहाल में ही जन्मे। वसुदेव ने यह सोच कर कि इनका बहिन के प्रति अनुराग भाव है, स्वीकृति दे दी। नेक व्यक्ति नेक ही सोचते हैं। वे क्या जानें कि किसके भीतर क्या है? देवकी के छः पुत्रों के जन्म विवरण आप अंतगड़ दशांग सूत्र के माध्यम से सुनते हैं कि कैसे वे सुलसा के घर पहुँच गये। कंस ने सोचा-मैं ज्योतिषी और देवकी से भयभीत था पर ये मृत शिशु मेरा क्या बिगाड़ सकते थे? उसे नहीं मालूम था कि 'मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है।' हरिणेगमेषी देव देवकी के बालकों को सुलसा के पास पहुँचा देता था। जब सातवीं संतान गर्भ में आई तब देवकी ने शुभ स्वप्न देखे और वसुदेव से कहने लगी-स्वामी इस बार जो संतान गर्भ में आई है वह दिव्य संतान है। मुझे शुभ स्वप्न आये हैं। इस महापुरुष की रक्षा करनी है। वसुदेव बोले-देवकी तुम पतिव्रता सन्नारी हो। मेरे वचन निभाने के लिए छः पुत्रों का बलिदान कर दिया, अपने मातृत्व का बलिदान किया। कोई भी माता अपनी कोख सूनी नहीं देखना चाहती पर तुमने बच्चों का मुख भी नहीं देखा, कंस के हवाले कर दिया सिर्फ मेरे वचनों की खातिर, फिर मैं सत्य कैसे त्याग सकता हूँ? कंस ने कहा है, प्रसव मथुरा में होगा। यद्यपि मैं चाहूँ तो कंस की उपेक्षा कर सकता हूँ, पर मैं वचनबद्ध हूँ। अब जो स्थिति बने, वह स्वीकार करनी होगी। कंस ने

कहा-मुनि ने भी और ज्योतिषी ने भी कहा था-सातवें संतान घातक होगी अतः उसने चारों ओर पहरा तैनात कर दिया। देवकी-वसुदेव को हथकड़ी-बेड़ी पहना दी गई। नगर द्वार बंद कर दिए गये किन्तु अष्टमी की रात्रि को आकाश में एक नक्षत्र चमका, बिजली चमकने लगी, बादलों की गड़गड़ाहट तेज हुई, मानो जन्म से पूर्व इन्द्र नगाड़े बजाकर स्वागत कर रहा हो। प्रकृति भी चंचल बन थिरकने लगी। आकाश के नक्षत्रों की तरह शुभ घड़ी, पल में पृथ्वी पर भी एक नक्षत्र उदित हुआ। देवकी ने कहा-'बालक का जन्म हो गया है। अतः उसकी सुरक्षा का अब उपाय करो।' वसुदेव ने कहा-'देवकी, चारों ओर घेराबंदी है, वह (कंस) आयेगा और कहेगा-संतान दो तब क्या दोगी उसे?' देवकी ने उत्तर दिया-'स्वामी, मैंने यशोदा को सखी बनाया है, वह भी अभी प्रसव करेगी। उसकी संतान ले आना और इसे वहाँ पहुँचा दो।' और उसी समय घटित घटना घटी। उनकी हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ स्वतः ही टूट पड़ीं और द्वार खुल गये। जैन कथाओं के अनुसार शिशु को हाथों में लेने का और पौराणिक आख्यानों के अनुसार सुपड़े में लेने का प्रसंग है। जब कृष्ण का जन्म हुआ था तब पहरेदार भी सो गए थे। यह घटना बतलाती है कि क्या घटित हो रहा था? कौन है देवकी और कौन है वसुदेव? विचार करें, यह एक रूपक भी है।

हमारी आत्मा देवकी है, वसुदेव सत्य स्वरूप हैं। 'तं सच्चं खु भगवं' सत्य ही भगवान है। सत्य के लगाव से जिसने सत्य की आराधना की उसके भीतर कृष्ण-रूप-ज्ञान का जन्म हुआ और जब ज्ञान का आलोक फैला तब कंस जैसे अहंकारी, जरासंध जैसे रूप-मोहग्रस्त राजा और काम-क्रोध-ईर्ष्या-मद-रूपी पहरेदार-सभी के पैर उखड़ने लगे, वे निष्क्रिय हो गये। ज्ञान का आलोक जग जाये तो फिर ये प्रहरी सो जाते हैं, खराटे भरने लगते हैं। कृष्ण रूप ज्ञान को सत्य रूप वसुदेव ले जा रहे हैं। मार्ग में द्वार पर नजर गई। बड़ा ताला लटक रहा था, ऊपरी भाग में उग्रसेन बंदी थी।

उदासेन कहे कोई, तुझ बंधन काटे सोई।
ये वचन सुन उग्रसेन कहे, वेगा पथारो भाई॥

ज्ञान के अंगूठे से स्पर्श हुआ, ज्ञान की शक्ति से ताला खुल गया। आत्म शक्ति प्रबल हो तो बेड़ी-ताले क्या चीज हैं? मानतुंगाचार्य भगवान आदिनाथ की भक्ति में रम गये तो ताले टूट गये, वे कक्ष से बाहर आ गये। हम कहते हैं चमत्कार को नमस्कार है पर हमें उस शक्ति की जाग्रत करना नहीं आया है जो चमत्कार को जन्म देती है। इसीलिये तो काम-क्रोध-ईर्ष्या रूपी पहरेदारों से घिर कर देवकी (आत्मा) सिकुड़ गई है, उनके शिकंजे में कैद है। यदि वह जाग्रत हो जाये तो फिर इनकी क्या बिसात जो हमारी वृत्तियों को प्रभावित कर सकें? पूज्य गुरुदेव (नानेश) जन्माष्टमी में एक कविता का उच्चारण करते हैं। यद्यपि कविता पुरानी है परन्तु है अर्थपूर्ण-

हरि के गुण गाऊँ, हरिलीला कहिए सुनाऊँ।
ओ हरिजी! हरि के गुण गाऊँ॥

इस लंबी कविता में आगे कहा गया है-

हरि भोगी मैं बड़ भोगी, हरि योगी मैं बड़ योगी जी।

उन्हें भोगी भी और योगी भी माना गया है, क्यों? हमें देखना है कि वे कैसे भोगी हैं और कैसे योगी हैं? वसुदेव आगे पहुँचे। यमुना का पानी उछालें मार रहा था। हमारे भीतर भी विषय-वासना का पानी उछालें भर रहा है। व्यक्ति सोच नहीं पाता। पर यह पानी तक तक उछलता है जब तक ज्ञान का स्पर्श नहीं होता। ज्योंही कृष्ण-रूप ज्ञान ने स्पर्श किया, वह उछाल बंद हो गई। कवि कहता है-

पाप पराल को पुंज बन्यो अति, मानो मेरु आकारो।
सो तुम नाम हुताशन सेती सहजे प्रजलत सारो॥

ज्योंही प्रभु के नाम की चिनगारी लगी, पर पाप पराल, जो विस्तृत रूप धारण किये हुए था, पल भर में ही भस्म हो गया। यमुना की अथाह जल राशि ज्ञान के स्पर्श से छिछली हो गई। यमुना ने मार्ग दे दिया। वसुदेव यशोदा के पास पहुँचे। कृष्ण को वहाँ छोड़ दिया और यशोदा की कन्या लेकर आने लगे। इस प्रसंग पर कहीं धीरे-धीरे मधुर स्वर गूंज रही थी-

आओ आओ नी सखी री धीमी-धीमी गावँ।
कि जनम्यो-जनम्यो रे, गोकुल में कान्हो वंशी वालो॥

यशोदा कहती है—जोर से गावें तो कंस सुन लेगा। वह काल शत्रु है पर बालक के जन्मोत्सव पर, वे हर्षोल्लास रोक नहीं पा रही हैं अतः धीमे-धीमे स्वर में गा रही हैं। कृष्ण बड़े हो गये। उनकी सीधी-सादी वेश-भूषा थी। कवि बिहारीलाल ने उनका रूप चित्रित किया है—

मोर मुकुट, कटि काछनी, गल-गुंजन की माल।
वे मेरे उर में बसो, सदा बिहारी लाल॥

माथे पर मोर के पंखों का मुकुट है, गले में चिरमियों की माला है, लंगोटी पहने हैं, ऐसे मुरारी मेरे हृदय में बस रहे हैं।

बात चल रही थी—कृष्ण योगी भी और भोगी भी, कैसे? व्यक्ति कथा में सुन लेता है और अपने चिन्तन के अनुरूप अर्थ ग्रहण कर लेता है। एक बार महाभारत का वाचन हो रहा था। सुनते-सुनते एक पटेल के नेत्र अश्रुपूरित हो गये। ब्राह्मण देवता ने पूछा—‘भाई आँखों में आँसू कैसे?’ उत्तर मिला—‘क्या बताऊँ, आपने सुनाने में देर कर दी। मैं यदि महाभारत पहले सुन लेता तो बरबाद नहीं होता, आबाद हो जाता। आज तो धर्म के ठेकेदार कहते हैं कि औरत को दाँव पर नहीं लगाना चाहिये। मैं सब-कुछ हार गया। यदि मैं पहले सुन लेता कि धर्मराज ने द्रौपदी को दाँव पर लगाया था तो मैंने, जिसने पूरी सम्पत्ति दाँव पर लगा दी थी, पत्नी को भी दाँव पर लगाता और शायद खोया हुआ पा लेता।’ पटेल की बात पूरी हुई तो पटेल की पत्नी ने कहा—‘आपने सुनाने में देर कर दी नहीं तो मैं निहाल हो जाती। आज तक मैं सुनती आई हूँ कि एक पुरुष अनेक पलियाँ रखता है पर द्रौपदी ने तो पाँच पतियों का वरण किया था। अब तो मैं बूढ़ी हो गई हूँ, यदि पहले वह कथा सुन लेती तो मैं भी पाँच पतियों का वरण करती।’ अब सोचिये, महाभारत में क्या अर्थ निकाला। सुनने वाला अपना इच्छित अर्थ ग्रहण कर लेता है। आज व्यक्ति कहते हैं कि कृष्ण गोपियों के साथ रहे और भ्रष्ट नहीं हुए, हम भी रहें तो क्या एतराज है? कैसी-कैसी कल्पनाएँ की जाती हैं? पर कृष्ण की जो लीला थी, उसे समझिये। पुराण उठाकर देखिये, वे बताते हैं कि गोपियाँ शुद्ध भक्ति से नृत्य करती थीं। एक बार गोपियों के मन में विषय-वासना जागी तो उन्होंने देखा कि कृष्ण तो अदृश्य हो गए थे। यदि वे भोगी होते तो विषय-वासना भड़कने पर लुप्त नहीं होते।

कृष्ण योगी थे, सारी बहिनों के बीच उनके प्रेम व भक्ति के कारण रहते थे। योगी और भोगी की दोनों अवस्थाएं साथ-साथ नहीं रह सकतीं, एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। जहाँ भक्ति है वहाँ विषय-वासना नहीं ठहर सकती। जहाँ हम परमात्मा के प्रति समर्पित होते हैं वहाँ क्रोध, मान, मत्सर, ईर्ष्या नहीं रह सकते। काम, क्रोध शमित नहीं तो परमात्मा के प्रति वंदन/समर्पण विधिवत् नहीं हो सकेगा।

एक बात और है, कृष्ण के हाथों में बंशी रहती थी। वे जब चाहते तब मुँह से लगा लेते और मधुर राग से लोगों को आकर्षित करसे लगते। बाल गोपाल ‘कृष्ण भैया’, ‘कृष्ण भैया’ कहते हुए आनंदित होते। पर गोपियों को बंशी से चिढ़ थी। वह बंशी उनकी ईर्ष्या का कारण बन गई और उन्होंने कहा-ऐ बांसुरी तू निरी ठोठ, लकड़ी की बनी हुई है पर कृष्ण के मुँह पर चढ़ी रहती है और हम कृष्ण की भक्ति करती हैं पर कभी कृष्ण के मुँह पर नहीं चढ़ीं। उन्होंने कृष्ण से भी शिकायत कर दी। कृष्ण मंद-मंद मुस्कराये-बांसुरी उनके आगे कर दी और समाधान दिया कि बांसुरी भीतर से सरल है, इसके भीतर आँटियाँ नहीं हैं, गाँठें नहीं हैं। तुम भी अपने आप को निर्ग्रन्थ बना लो। सीधी-सीधी बंशी मुझे प्रिय है। जो व्यक्ति इस बंशी की भाँति सरलता अपना ले, वह मेरे मुँह पर चढ़ सकता है। गाँठ है तो समाधान नहीं होगा। अपने आप को बंशी जैसा खोखला, निर्बल बना लो। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, डाह आदि हैं तो कृष्ण तत्काल लुप्त हो जाएँगे। जहाँ अहंकार और ममकार है वहाँ सुलझन नहीं होगी। सुलझन तभी होगी सब ग्रंथियाँ दूर हो जायेंगी। ग्रंथियाँ उलझाती रहें तो सुलझने की बात कैसे बनेगी? तर्क एक हो तो कोई बात बने पर तर्क अनेक हो जायें तो समाधान कैसे हो? शास्त्रकार कह रहे हैं-‘तत्का तत्थ न विज्जई।’ बंशी की भाँति सीधे बन जाएँ, समाधान हो जायेगा। गोपियाँ समझ गईं। यदि भीतर माया, छल, प्रपञ्च है, भीतर कुछ है और बाहर कुछ और तो जंजाल फैलेंगे। महात्मा बुद्ध के सामने प्रसंग आया-उन्होंने खुले रूमाल में एक गाँठ लगा दी और शिष्यों से पूछा-इसमें क्या परिवर्तन हुआ है? शिष्य कहने लगे-पहले इसमें विस्तार था अब यह सिकुड़ गया। बुद्ध ने पूछा-यदि इसके दोनों छोर पकड़ कर खींचें तो क्या होगा? शिष्य ने कहा-ग्रंथि

घनीभूत हो जायेगी और गाँठ अधिक सख्त हो जायेगी। बुद्ध ने खोलने का उपक्रम किया। यह क्या दर्शाता है? शिष्यों ने कहा—अब हाथों को शिथिल छोड़ना होगा। दोनों हाथ ढीले छोड़ दिये जायें तो गाँठ खुल सकती है। खींचने से ग्रीथ नहीं सुलझेगी। सुलझाने के लिए दोनों हाथों को आगे आना होगा, निकट आना होगा। दूरियाँ बढ़ाने से गाँठ कसती जायेगी। बुद्ध महात्मा ने जो बात कही, प्रकारान्तर से वही बात कृष्ण से हमें मिल रही है। कृष्ण ज्ञान रूप है, जब वह आत्मा में प्रादुर्भूत हो जायेंगे तो विषय-वासना हममें टिक नहीं पायेगी। पूज्य गुरुदेव (नानेश) कृष्ण को पूरे भारत का शरीर रूप कहते हुए निम्न काव्य पर्कित्याँ उच्चरित किया करते हैं—

देह भारत भाग्य बचाओ रे, जरा सुन के अरदास।
शिशुपाल काम सरदारा, आत्म लक्ष्मी हरनारा।
प्रभु आकर सहाय कराओ रे, जरा सुनके अरदास॥
शिशुपाल काम का प्रतीक है, रुक्मकुमार क्रोध का, कंस अहं
का, जरासंध मोह का और पूतना तृष्णा रूपी भुआ है।

कृष्ण ने गोकुल के निकट मरी हुई गायें देखकर पूछा—यह कैसे हुआ? लोगों ने बताया—इस दह में कालिया नाग है और उसकी विषैली फुफकार की वजह से दह का पानी विषाक्त हो गया है। जो भी प्राणी इसका जल पीते हैं उनकी यही दशा होती है। कृष्ण ने कुछ नहीं देखा, उठाई वंशी और दह की गहराई में उतर गये, वहाँ की रचना भी विचित्र थी। नागराज सोये हुए थे, नागिन चरण उपासना कर रही थी, पैर दबा रही थी। ज्योंही उसने इस प्रिय मनोरम बालक को देखा तो वह कहने लगी—

कणी दिशा सुं आयो रे बाला, काँई तुम्हारो नाम छे।
कौना सखी नो नंद कहीजे, काँई तुम्हारो धाम छे॥
दक्षिण सुं आयो रे नागिन, कृष्ण हमारो नाम छे।
नंद यशोदा रो लाल कहीजे, गोकुल हमारो धाम छे॥

नागिन ने कहा मेरे-पति चाण्डाल हैं, खूँखार हैं, तुम भाग जाओ! यदि जाग गये तो तुम्हारी खैर नहीं। ये लो, मैं पति से छिपकर तुम्हें हिरे का हार देती हूँ, लगता है तुम मार्ग भटक गए हो पर अब हार

लेकर चले जाओ। कृष्ण ने कहा-नागिन, मुझे हार नहीं चाहिए। चोरी करके देने की जरूरत नहीं। मैं रिश्वत लेने वाला नहीं हूँ। मैं तो अपना कार्य करने आया हूँ। इस कालिया नाग के विष से प्राणियों का हनन हो रहा है अतः मैं तो इसे नाथने के लिए आया हूँ। अहं रूप इस नाग-नागन को परास्त करना चाहता हूँ। मैं मार्ग भूलकर नहीं आया हूँ। अपने उद्देश्य को पूरा करूँगा और रिश्वतखोरी नहीं करूँगा। तत्पश्चात् उन्होंने नाग को जगाने के लिए उसका स्पर्श किया। फुफकार मारता हुआ कालिया नाग उठ बैठा। कृष्ण ने लीला दिखाई, नाग को चारों ओर घुमाने लगे। घूमते-घूमते मौका पाकर वंशी से फन पर प्रहार किया, नाग वहीं ढेर हो गया। कालकुमार नामक सेनापति के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। उसे कोई परास्त नहीं कर सकता था। उसे भी कृष्ण ने महाकाल दिखा दिया। कंस ने पूतना दासी के माध्यम से भी कृष्ण को हानि पहुँचाने के प्रयास किये पर सफलता नहीं मिली। मनोविनोद के निमित्त कंस ने मल्लयुद्ध आयोजित किया। कृष्ण जाने लगे तो माता ने कहा-बेटा, मथुरा मत जाना। कृष्ण ने कहा-माँ, मैं भी देखूँ तो सही। उठाई मुरली और चल पड़े। मैदान में दो मल्ल खड़े थे। एक चुनौती दे रहा था-कोई है तो आ जाओ अखाड़े में। सारे चुप बैठे थे, हिम्मत नहीं थी। इतने में बाल कृष्ण कूद पड़ा। जनता हाहाकार कर उठी। इतने बड़े पहलवान से यह बालक क्या युद्ध करेगा! पहलवान ने कहा-बच्चे, अभी उमर के कच्चे हो, चले जाओ। कृष्ण ने कहा-खबरदार! बहादुर बात नहीं करते, कायर बातें बनाते हैं। वीर हो तो उत्तर पड़ो मैदान में। दो झपटां में तो उस बालक ने पहलवान को पछाड़ दिया। अब कंस को विश्वास होने लगा कि मल्लयुद्ध में पहलवान को मारने वाला ही मेरा शत्रु है। यह भविष्यवाणी भी हो चुकी है। आज शत्रु मिल गया है, उसे जीवित नहीं छोड़ना चाहिये। बस म्यान से तलवार निकाली और आ गये सामने। कृष्ण के पास शस्त्र था नहीं, निकाली बांसुरी, उसी से प्रहार करते हुए कंस की चोटी पकड़ी और माथा घुमा दिया, हाथ भी घूम गया, तलवार पीछे चली गई। कृष्ण ने मुरली की मार से कंस को वहीं ढेर कर दिया।

हम विश्वास विकसित करें कि हमारे भीतर भी कृष्ण हैं जो देवकी रूप आत्मा से उत्पन्न होगा। और जब ज्ञान (कृष्ण) का जन्म

हो जायेगा तब कंस रूपी हिंसक टिक नहीं पायेगा। चोट पड़ते ही कंस भाग गया। वंशी के सारल्य के सामने अहं (कंस) के शस्त्र, तलवार आदि टिक नहीं पाये, सभी निरर्थक हो गये। जीवयशा (दर्शन मोहनीय) रोने लगी। मेरा अहं रूप पालक चला गया, अब किसके सहारे रहूँगी? वह भागती हुई मोह रूप पिता जगासंध की शरण में गई। उठो मोहराज! जागो! नहीं तो यह बढ़ती हुई आग (ज्ञान) तुम्हारे घर को भी नष्ट कर देगी। मोह को समझ जाना चाहिए था कि वंशी के प्रहार से ही कंस ढेर हो गया तो मैं किस खेत की मूली हूँ। पर कहा है—विनाशकाले विपरीत बुद्धिः। और ऐसी अवस्था में हित ही बात नहीं सुहाती। कृष्ण ने उसे भी मौत के घाट उतार दिया और शांति का वातावरण निर्मित किया। कंस को मारकर उन्होंने राजगद्वी नहीं ली, अपितु उस पर जिसका अधिकार था उस उग्रसेन को प्रदान की। कृष्ण ने कहा—मेरा कर्तव्य अनीति का विनाश करना है, राज्य हड्डपने की उच्छृंखलता प्रदर्शित करने पर मैं स्वयं नीतिवान नहीं रह पाऊँगा। उन्होंने उग्रसेन के साथ वसुदेव, देवकी और ज्योतीषी को भी कारागार से मुक्त किया। चारों ओर कृष्ण की जयकार होने लगी। वह निर्माही व्यक्तित्व पूरे भूमण्डल पर छा गया, उन्होंने कर्म की महिमा प्रतिपादित की। दुर्मीते सभी युगों में रहते हैं, उस युग में भी थे। वे कृष्ण पर संशय करने लगे। कृष्ण भोगी है, दुश्चरित्र है, इतनी औरतों के बीच रहता है—दबी जबान से ऐसी चर्चा चलने लगी। संयोग से उत्तरा की कुक्षि का बालक गर्भ में स्वर्गस्थ हो गया। कृष्ण ने कहा—जो भी जीवन में सत्य, नीति और धर्म पर केन्द्रित रहा हो वह आज आजमाईश कर ले। जिसने किसी का माल हड्डप नहीं किया हो, हिंसा नहीं की हो वह प्रयास करे, बालक जीवित हो जायेगा। जनता चुपचाप सुनती रही। सोचने लगी, हमारे भीतर काम, क्रोध, ईर्ष्या, तृष्णा, लालसा, भरी है, कितनी बार हमने कितनों का गला घोंटा है। सत्य का गला घोंटा है। कैसे सत्य की दुहाई दें? और क्या हमारी दुहाई से उत्तरा का बालक जी उठेगा? आप सोचेंगे, क्या ऐसी घटना घट सकती है? हाँ घट सकती है। सुभद्रा ने सतीत्व के बल पर चंपा नगरी के चार द्वारों में से तीन द्वार उद्घाटित किये थे, एक द्वार बहुत समय तक बन्द था (अभी मालूम नहीं) कृष्ण ने कहा—यदि

मैंने जीवन में सत्य, धर्म और नीति का पालन किया हो तो हे उत्तरा के पुत्र, तुम जीवित हो जाओ। बालक सचमुच उठ बैठा। घटना घट गई। इसमें कुछ अतिर्जित तथ्य भी हो सकते हैं पर इससे कृष्ण का योगनिष्ठ जीवन तो सामने आ ही जाता है। कृष्ण के विस्तृत चरित्र की सीमित समय में विवेचना नहीं की जा सकती। पर उनका चरित्र परम्परा से हम सुनते आ रहे हैं। हमें उनके जीवन का एक-एक पहलू सामने रखकर उनके जीवन की समरसता पर चिन्तन करना चाहिए। आज की स्थिति कैसी है, इस विषय में कवि कह रहा है-

समय के फेर से जी-२, भारत दशा और की और।
कहाँ गये गोपाल कृष्ण जो गऊ को लाड लड़ाते।
आज अधर्मी बहू-बेटी को बेच-बेचकर खाते॥
समय के फेर.....

कृष्ण गऊ को कैसा लाड़ लड़ाते थे। त्रिखण्डाधिपति गायों को जंगल में चराने ले जाते थे। आज तो महाजनों की बात क्या पूछना? यदि मुस्लिम मिल गया तो कह देंगे-सलाम, अस्लामालेकुलं सलाम। किसी ने कहा-‘जय गोपालजी की’ तो किसी ने ‘जय जिनेन्द्र’। जैसा रंग सामने आया वैसे रंग में रंग जायेंगे क्योंकि हमें भीतर घुसना है, भीतर घुसे बिना माल कैसे लेंगे? रंग बदलने से ही काम होगा। याद रखिये, रंग कितने ही बदलो पर यदि मूल रंग लुप्त हो गया तो फिर स्थिति विकट हो जायेगी। आज चारों तरफ आवाज उठ रही है-‘गऊ हत्या हो रही है’, पर क्या विचार करूँ, किसे सुनाऊँ, कान खुले हों तो सुनाऊँ, पर हमने तो कान में डुच्चे भर रखे हैं, कितने भी विस्फोट, धमाके क्यों न हों हमें सुनाई नहीं देते, हमारे कान तो पक गये हैं। इस नगाड़े की चोट से क्या होना-जाना है। कहते हैं, ये अधर्मी कसाई लोग गऊ के गले पर छुरी चला रहे हैं पर जरा अपनी छाती पर हाथ रख कर देखिये कि कहाँ आप भी इसमें सहभागी तो नहीं बन रहे हैं? आप तो इसके विरोध में पच्चीस पैसे का पोस्ट कार्ड भी नहीं डाल सकते, इतनी अल्प राशि बचाने के फेर में हम कर्तव्य-पालन से विमुख होते हैं। छपे हुए पोस्टकार्ड पर हस्ताक्षर करने में भी जब आपको जोर आता है तब गऊ रक्षा के लिए आपने कितना पुरुषार्थ किया, यह समझ में आ

जाता है। तब आप कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में गौ-हत्या के पाप से जुड़ रहे हैं या नहीं, सोच कर देखिये। बूचड़खानों के शेयर बिकते हैं तो आप खरीदते हैं या नहीं? घर में यदि गाय माता बुढ़ी हो जाये तो उसे आप बेच देते हैं या नहीं? आप कहेंगे हमने कसाई को नहीं बेची। पर घूमती हुई, आज नहीं तो कल, वह कहाँ पहुँचेगी? महाशतक का दृष्टांत आपने सुना होगा। रेवती गाथा पली मांसाहारी थी। महाशतक 12 व्रतधारी और पली मांसाहारी? महाशतक जी को उस घर में रखना चाहिए या नहीं? आप कहेंगे उसका बहिष्कार कर देना चाहिये। बातें हम जल्दी कर लेते हैं, उनकी क्रियान्विति की चिन्ता नहीं करते। महाशतक ने ऐसा नहीं किया। उसने सोचा, यदि इसे बाहर कर दिया होता तो यह ना जानें कितनों का शील भंग करती, नगरवधू बन जाती और कितने ही घरों में आग लगाती। समझदार व्यक्ति सदा आग से बचाने की कोशिश करता है फिर भी यदि कोई अपने आप आग में कूद पड़े तो क्या किया जा सकता है? यदि विवेक हो तो ही बचाव संभव है। विवेक जाग्रत नहीं तो गर्त में गिरना आसान हो जाता है। उस जमाने में गऊ और बेटी पैसे से बिकते थे। साठ वर्ष का बूढ़ा यदि थैलियाँ भेज दो तो बीस वर्ष की कन्या से विवाह हो सकता था। आचार्य जवाहर ने इस व्यवस्था के प्रति जमकर संघर्ष किया। आप भी सोचिये कि साठ वर्ष वाले के साथ किसी कन्या को जोड़कर घर जोड़ा या उसके जीवन के साथ खेल खेला? उस जमाने में तो बेटियाँ बिकती थीं पर आज तो बेटे बिकते हैं। बाजार में नहीं, ग्राहक घर बैठे आते हैं। पूज्य गुरुदेव (नानेश) प्रभावकारी शब्दों में कहते हैं-आज व्यक्ति सीधे तो इस बिक्री की बात नहीं कहते पर घुमा-फिरा कर कहते हैं-काँई करां सा, आप जैसा सुशील समधी, सगाजी बनालां पण लड़का शादी वास्ते राजी नहीं। हालांकि उससे पूछा नहीं गया। पूछा भी क्या जाये? मोल-भाव तय हो तो बिक जायेगा। बिना माल सौदा तय नहीं होता। आगे कहेंगे-इंदौर वाले आये थे, एक लाख रुपये नगद, मारुती, टी.वी. फ्रीज सब देने के लिए तैयार थे पर कंवर सा तैयार ही नहीं हुए। इस प्रकार परोक्षतः आपने कह दिया कि लाख रुपये, मारुती में तो सौदा पटेगा नहीं। ज्यादा हो तो बात करो। और यदि उसके पास

ज्यादा होगा तो लड़का तैयार हो जायेगा। साथ में यह और कहेंगे-मेरे तो दहेज लेने की सौगन्ध है पर पुत्री आपकी है, उसे आप देते हैं तो मेरे को क्या एतराज। यह तो वही बात हुई-‘रोटी खाना शक्कर से, दुनिया ठगना मक्कर से।’ सीधी बात नहीं की जाती। बातों के पीछे चालाकी रहती है, प्रपञ्च रहते हैं। कृष्ण को तो गऊ चराने में शर्म नहीं आई पर हमें तो चारा-पानी डालने में भी शर्म आती है। नौकर से यह कार्य करवा लेंगे। आप यह भूल जाते हैं कि अपने-आपके परिश्रम का रंग अलग होता है। हमारे भीतर कृष्ण-रूप ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो, पर समझ लीजिये कि वह होगी अपनी ही देवकी के उदर से। वह ज्ञान यदि जन्म जाय तो फिर दुःख का सदा के लिए विनाश हो जायेगा और हम सुखी हो जायेंगे। जो आत्मा की संतान है, वह माता को संतान नहीं देगी। माँ को संताप दे जो ज्ञान वह ज्ञान किस काम का? सच्ची संतान जन्म दात्री को कभी दुःख नहीं दे सकती। हमारे भीतर ज्ञान रूपी संतान पैदा हो जो हमें कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ावे, मंगलकारिणी बने और जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में हमारी सहायता करे, यही अभिलाषा है। कृष्ण जन्माष्टमी के पर्व से यह प्रेरणा तो लेनी ही चाहिये।

- जन्माष्टमी

5-9-96

परमात्मस्वरूप की प्राप्ति का मार्ग

प्रार्थना सद्भूत गुणों की हुआ करती है। जिन तीर्थकर देवों की, आराध्य देवों की उपासना-प्रार्थना की जाती है उनके बारे में हमें ज्ञात होता है कि कितने और कैसे गुणों से वे युक्त थे क्योंकि बिना यह ज्ञान हुए श्रद्धा नहीं हो सकती। उस स्थिति में पूज्य भाव भी उत्पन्न नहीं हो सकता जो प्रार्थना के लिये आवश्यक होता है। इस प्रकार श्रद्धा भाव के साथ प्रार्थना करने पर, जिसकी प्रार्थना की जाती है उसकी विशेषताओं की समझ भी जुड़ी होती है।

किसी से संबंध स्थापित करने के लिए पहले उससे परिचय करना होता है। प्रभु महावीर ने ऐसा परिचय देते हुए एक वाक्य कहा—‘अप्या सो परमप्या’ अर्थात् जो आत्मा है वही परमात्मा है। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सभी आत्माएँ परमात्मा हैं तो फिर परमात्मा की स्तुति क्यों की जाये, आत्मा की स्तुति ही क्यों नहीं कर ली जाये? समाधान यह है कि यद्यपि आत्मा के अंदर परमात्मा भाव होता है किन्तु वह सोया हुआ परम तत्त्व होता है और जब तक वह जग नहीं जाता तब तक उसे परमात्मा नहीं कहा जा सकता, उसे आत्मा ही कहा जाता है। उसके शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किए बिना परमात्मा शक्ति का संचार आत्मा में नहीं हो सकता। एक दृष्टांत लें। अरणि की लकड़ी में आग होती है और दो टुकड़ों को रगड़ने से उनमें आग लग जाती है। लकड़ी में आग है पर वह दिखाई नहीं देती। यदि आग लकड़ी में है तो आग स्वयं प्रकट क्यों नहीं हो पाती? उसके पीछे कारण है। आपस

में संघर्ष जरूरी है तभी आग प्रकट हो सकती है, उसके लिए वैसा पुरुषार्थ अपेक्षित है।

एक व्यक्ति को घी की आवश्यकता है, दूसरा व्यक्ति उसे दूध देता है। कहा-भाई, मुझे घी चाहिये। दूसरे ने कहा-इसमें घी समाविष्ट है। हम जानते हैं कि दूध में घी होता है? आज का दूध जिसमें से घी पहले ही निकाल लिया जाता है, वह मात्र नाम का दूध है, यह अलग है। यहाँ यथार्थ दूध की बात है। घी उसमें दिखाई तो नहीं है पर उस दूध में घी है जरूर। उसे प्रक्रिया से प्राप्त किया जा सकता है। उसकी प्रक्रिया है दूध को तपाकर दही जमाना, दही का बिलोना कर मक्खन निकालना, फिर उसे तपाकर घी प्राप्त कर लेना। यदि घी कम तपा हुआ है तो कुछ समय बाद उसमें दुर्गम्भ आ सकती है पर अच्छी तरह तपाए गए घी में सहसा दुर्गम्भ आ नहीं सकती। पूरी तरह नहीं तपने से उसमें छाछ का अंश रह जाता है जिससे वह थोड़े समय बाद बदबू मारने लगता है। जैसे दूध में घी होते हुए भी दिखाई नहीं देता पर चतुर व्यक्ति दूध में से घी निकाल लेते हैं, उसी तरह ज्ञानवान व्यक्ति शरीरस्थ आत्मा में छिपे परमात्म भाव को प्रकट कर लेते हैं। उसे प्रकट करने के लिए तप की आवश्यकता होती है। मोटे रूप में हम उपवास, बेला, तेला आदि को ही तप मान लेते हैं पर तप इतना ही नहीं है, यह तो तप का मात्र एक भेद है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति संक्षेप, रस परित्याग, काय क्लेश, प्रतिसंलीनता, प्रायशिच्चत, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग-तप के बारह प्रकार हैं। एक वाक्य में कहें तो ‘इच्छा निरोधः तपः’ अर्थात् इच्छाओं का निरोध ही तप है।

इच्छाओं का निरोध होने पर ही तप हो सकता है। तप करने के बाद कुछ पाने की लालसा यदि रहती है, मान प्रतिष्ठा के भाव यदि बनते हैं तो वह तप नहीं है, निर्जरा का कारण नहीं है।

जब तक छाछ रूप तत्त्व घी में रहेगा वह निखालिस रूप को प्राप्त नहीं कर पायेगा, उसमें परम तत्त्व नहीं निखरेगा। कहीं-कहीं तपस्याओं के साथ भी इच्छाएं जुड़ जाती हैं। इधर मेवाड़ का तो नहीं मालूम लेकिन मारवाड़ में बहनें धमक तेला करती हैं। तेले की पूर्णाहृति

पर सास-ससुर के अंग पूजन की परम्परा है, केसर से अंग पूजे जाते हैं और पैर पकड़े जाते हैं। ससुरजी नोट की थैली पकड़ा देते हैं, संतोष नहीं होता है, तो और रकम आदि थमा देते हैं, फिर परिजनों के कहने पर पैर छोड़ दिया जाता है। धमक का अर्थ धमकाना।

ऐसी तपस्या में पारिवारिक आत्मीयता भले हो पर ऐसी तपस्याएँ परमात्मा भाव की प्राप्ति में सहायक नहीं होतीं। कई बार व्यक्ति सोचता है कि तपस्या कर लूँ मुझे कुछ सहयोग मिल जायेगा, लाभ मिल जायेगा तो उसका लाभ वहीं तक सीमित हो जाता है। सामायिक करने के पीछे यदि भावना यह बनती है कि सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जायेगी, व्यापार में लाभ होगा, किसी से भाग्य की प्राप्ति होगी, अथवा ऐसी ही कोई भावना होती है तो सामायिक का अपेक्षित लाभ नहीं मिलता। जिन अनुष्ठानों के साथ भावनाएँ अथवा कामनाएँ जुड़ जाती हैं वे अनुष्ठान परमात्म भाव को पैदा करने में समर्थ नहीं हो सकते।

एक कथा है। राजा भोज सभा में बैठे थे। एक कृशकाय व्यक्ति, जिसके कपड़े जगह-जगह से फटे थे, जिसके पैरों के जूते घिसे हुए थे परन्तु जिसके माथे पर तिलक छपे हुए थे, द्वार पर पहुँचा और द्वारपाल से कहने लगा—‘मैं राजा भोज से मिलना चाहता हूँ।’ उत्तर मिला—‘चल भाई, कई आते हैं ऐसे।’ उस दरिद्र ने पुनः कहा—‘मैं राजा भोज का पारिवारिक जन हूँ, मुझे जाने दो, कहीं ऐसा न हो कि तुम्हें इसकी सजा भुगतनी पड़े। मैं राजा की मौसी का लड़का-भाई हूँ।’ द्वारपाल को विश्वास नहीं हो रहा था। राजा को सूचना दी, कहा कि एक दरिद्र-सा दिखने वाला व्यक्ति अपना परिचय आपके भाई के रूप में दे रहा है।

राजा ने कहा—‘उसे सम्मान अन्दर ले आओ।’ किसी प्रकार का अन्यथा चिन्तन नहीं किया राजा ने। आज तो गृहस्वामी घर में होते हुए भी मनाकर देते हैं कि कह दो, अन्दर नहीं है। अस्तु, अतिथि आया। दोनों गले मिले। राजा ने उसे अपने पास सिंहासन पर बैठाया और उलाहना भरे स्वर में कहा—बहुत दिनों में मिले। ऐसी स्थिति थी तो पहले क्यों नहीं बताया?

श्रीकृष्ण के पास सुदामा गए तो श्रीकृष्ण ने उनके पैर धोकर अन्दर बुलाया, पास बैठाया, पूछा-भाभी ने मेरे लिए क्या भेजा है?

मित्र-भाव कैसा होना चाहिये-यह महान् आत्माओं के आचरण से जाना जा सकता है।

जब हमारी आत्मा उस परम तत्त्व को जान लेती है तब ही ऐसी भावनाएँ जाग्रत होती हैं। श्रीकृष्ण गुणग्राही थे।

राज भोज ने भी उससे पूछा-‘मौसी के क्या हाल-चाल हैं?’ आगन्तुक ने कहा-‘अब तक तो ठीक थीं परन्तु आपके दर्शन के बाद उनका निधन हो गया है।’ राजा भोज ने पूछा-‘दाह संस्कार किया या नहीं?’ आगन्तुक ने कहा-‘करना है।’ राजा ने खजांची को एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ देने का आदेश दिया। उसे एक हजार स्वर्ण मोहरें दे दी गईं।

ब्राह्मण चला गया। भोज से उसके मंत्रियों ने प्रश्न किया-‘महाराज, आप किस-किस को इस तरह भंडार से देते रहेंगे? ऐसे तो भंडार खाली हो जायेगा? कितने आएंगे? हर कोई आएगा और स्वयं को मौसी का लड़का भाई या रिश्तेदार बतायेगा।’ राजा भोज ने सरलता से उत्तर दिया-‘आप हमारी तौर पर सब-कुछ देख रहे हैं। किंचित् गहराई से विचार करें। दो बहनें हैं-सम्पत्ति और विपत्ति। एक सम्पन्नता है और एक निर्धनता। मैं सम्पन्नता का पुत्र हूँ और वह निर्धनता अथवा विपत्ति का पुत्र था और इस तरह हम मौसरे भाई हुए। फिर मैंने भी उसकी विद्वता की जानकारी प्राप्त करने के लिए मौसी का हाल पूछा। मैं जान रहा था कि यह दरिद्र नारायण है और उसे भी पता था कि मैं किसी को खाली हाथ नहीं भेजता। तो मुझे भी उसकी बात रखनी थी। उसने भी कहा कि मुझे देखने से अब उसकी माता अर्थात् मेरी मौसी का निधन हो गया अर्थात् मेरे पास आने से उसकी दरिद्रता दूर हो गई। और जब बात इस तरह की थी तो मुझे भी उसके सम्मान की रक्षा करनी ही थी। मेरी मौसी का संस्कार भी ठाठ-बाट से होना चाहिये था। जिससे वह भूत बनकर वापस नहीं आ जाये और आकर परिवार में कोई उत्पात नहीं मचा दे। ऐसी व्यवस्था करनी आवश्यक थी जो मैंने कर दी।’

बंधुओं! जो राजा भोज के पास चला गया, उसकी विपत्ति दूर

हो गयी। ऐसे ही श्रद्धा लेकर जो परमात्मा के चरणों में पहुँचता है और चरणों में बैठकर आराधना, उपासना करता है तो क्या उसके पास विपत्ति टिक सकती है? उसके पास भौतिक सम्पत्ति भले ही आए या नहीं आए, परन्तु परमात्म-भाव-स्वरूप आत्मा की शक्तिरूप सम्पत्ति प्रकट हो जायेगी। प्रभु के समक्ष जो प्रार्थना के स्वर उच्चरित किये जाते हैं उन्हें सुख-सम्पत्ति का हेतु माना जाता है। पर वह उपलब्धि कब और कैसे हो, इसके लिए विवेकपूर्वक विचार करना नितान्त आवश्यक है। इसके लिये प्रभु के प्रति समर्पण भाव जगाना जरूरी है। समर्पण भाव जगने पर हमारी आत्मा में शक्ति और सामर्थ्य पैदा हो जायेगी और इस प्रकार जो शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त किया जायेगा वह स्थायी होगा। हम भी तो परमात्मस्वरूप की स्थायी प्राप्ति चाहते हैं। अतः श्रद्धा और विश्वासपूर्वक उसके चरणों में समर्पण करें।

भाद्रपद कृष्णा 9

6-9-96

12

संयोगों से मुक्ति : आत्मबल की सिद्धि

प्रभु महावीर ने जो अपटू वागरणा का प्रारंभ किया है-उसमें सबसे पहले विनय का स्वरूप दर्शाया है। एक गाथा है-

संजोगा विष्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुत्रिं सुणेह मे॥

उत्तर : 1/1

इस गाथा में विनय की बात कहने की प्रतिज्ञा की जा रही है। यह अधिकार गाथा है अर्थात् मैं क्या कहना चाहता हूँ-इसका निर्देश इसमें स्पष्ट किया गया है। संजोगा विष्पमुक्कस्स, अर्थात् संयोग से मुक्त हो। संयोग क्या है? संयोग से व्यक्ति प्रफुल्लित होता है और इसी कारण वह संयोग जुटाता है। संयोग अनेक प्रकार के हैं। यदि व्यक्ति परिवार में अकेला है तो ऊबने लगता है। विचार करता है-आँगन में एक बालक की किलकारी भी नहीं, आँगन सूना-सूना लगता है। यदि आँगन में बालक की किलकारी गूँजे तो चहल-पहल हो जाये, आँगन का सूनापन मिट जाये। इस प्रकार संयोग की चाह बनती है। पर प्रभु ‘विष्पमुक्कस्स’ अर्थात् संयोग छोड़ने की बात कह रहे हैं। जब संयोग प्रिय है तो उसे क्यों छोड़ें, यह समझने के लिये हम संयोग का स्वरूप जान लें।

योग युज् धातु से बना है। योग का अर्थ है-जोड़ना। उसमें सम् उपसर्ग लगा हुआ है। सम् उपसर्ग के भी अनेक अर्थ हैं जैसे-सम्प्यक्,

सम्मिश्रण, संभव आदि। एक क्रिया में जितने उपसर्ग जुड़ते हैं उतने ही भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। यदि संयोग का अर्थ-सम्पर्क रूप से जोड़ने वाला किया जाये, तो सम्पर्क का अर्थ शुभ या प्रशस्त योग होता है और यदि ऐसे योग हैं तो जुड़ाव या लगाव अच्छा है। उसे क्यों छोड़ा जाये? ऐसा लगाव तो होना चाहिये। योग के ३ भेद हैं—मन, वचन, काया। योग अर्थात् प्रवृत्ति। यदि प्रवृत्ति का निरोध कर दिया जाये तो वह अयोग हो जायेगा। योग यदि प्रवृत्ति है तो निश्चित रूप से उसमें क्रिया भी होगी और क्रिया होगी तो उस क्रिया का परिणाम भी होगा।

संयोग का तात्पर्य यदि सम्मिश्रण लें तो समझ लें कि आत्मा के साथ कर्मों का सम्मिश्रण हुआ है। यह सम्मिश्रण सिर्फ जुड़ा हुआ ही नहीं बल्कि लोहे में आग और दूध में पानी की भाँति एकमेक स्वरूप है। यदि दो कागज के टुकड़े पास-पास रख दिये जायें तो यह संयोग तो होगा पर इसमें सम्मिश्रण नहीं होगा। दूध में पानी का सम्मिश्रण है, उसे मिश्रण रूप योग से अलग किया जाय। जो आत्मा कर्मों से विप्रमुक्त है तो उसके लिए विनय का कथन करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि कर्मों से अलग तो सिद्ध है, उनके लिए विनय की जरूरत ही नहीं है। फिर यहाँ क्या अर्थ लिया जाय? यहाँ शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि गणधर भगवन्तों ने प्रभु की वाणी को गुज़िफ़त किया है। उन्होंने जो शब्द-चयन किया, वह गहराई लिये हुए है। सामान्य व्यक्ति जैसे-तैसे शब्द जोड़ लेते हैं। पर आज भी कई व्यक्ति शब्दों का चयन करते हैं। कवि आनन्दघनजी को ही लें—उनकी शब्द संयोजना का एक-एक शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब ऐसे अध्यात्म पुरुष ऐसी शब्द संयोजना कर सकते हैं तो गणधरों का शब्द चयन, संयोजन निस्सार या असार नहीं बल्कि सारपूर्ण ही है। सम्मिश्रण वाले अयोगोलक (लोहे के गोले) को आग में डालने पर थोड़ी दर में ही गोला लाल सुख्ख हो जायेगा। दूर से देखने वाला समझ नहीं पाता कि वह लोहे का गोला है। वह उसे अंगारा समझता है। वैसे ही आत्मा के साथ कर्मों का संबंध है तो उसके लिए विनय की बात नहीं। किन्तु यहाँ अभिप्रेत कुछ अलग ही है। ‘सम्’ का अर्थ समन्तात प्रकर्षेण्ट्यर्थ उपयुक्त है। वह इस प्रकार

समझा जा सकता है कि आत्मा में भावरूप से लेश्याओं का संबंध जुड़ता है। वह चारों ओर से यानि समग्रता से आत्म प्रदेशों में प्रकर्षतया अर्थात् गहराई तक चिपक जाता है। जिस क्षण भाव-धारा का प्रवाह चलता है उसी क्षण शुभाशुभ कर्म संलग्न हो जाते हैं। उसमें जो संयोग/योग का प्रसंग बन जाता है वह चाहे परिवार के, धन के पदार्थों के किसी भी रूप से जुड़ा हो, वह आसक्ति का ही रूप है। ऐसा लगाव गहरा होता चला जाता है।

सामान्य रूप से साधु भी संयोग से अलग नहीं हैं। गुरु-शिष्य, साधु-साधु और स्वधर्मी का संयोग उससे भी जुड़ा हुआ है। वह भी संसार में रह रहा है-तीर्थ की स्थापना है तो परस्पर संयोग होगा ही। यदि पारस्परिक संयोग का सर्वथा विच्छेद कर दें तो स्थविरकल्पी, चतुर्विधि संघ की रचना चल नहीं पायेगी। इसलिए उस संयोग में जो बात कही है वह यह है कि जो हमारी भावधारा को कलुषित करता है और उससे जो कर्म का आदान होता है उस मूल जड़ को ही काट देना है जिससे वृक्ष हरा-भरा नहीं हो। यदि उसका सिंचन करते रहे तो संयोग जकड़ता चला जायेगा। ऐसे संयोग से आत्मा को अलग करना है।

एक परिवार में माता-पिता दीक्षा के लिए तैयार हुए तो पुत्र ने भी उनका अनुसरण करना चाहा। माता-पिता ने पुत्र को समझाने का प्रयास किया तो उसने कहा-यदि दीक्षा अच्छी है तो मैं संसार में रहकर क्या करूँगा और यदि संसार अच्छा है तो आप दीक्षा क्यों ले रहे हैं? आप निश्चय ही अच्छे मार्ग पर बढ़ रहे हैं इसलिये मैं भी आपके साथ दीक्षा लूँगा। पिता उसके तर्क का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सका अतः तीनों दीक्षित हो गये। पिता का सहज ही कुछ ममत्व भाव रहा था। विचार किया-बालक है, अभी वह अध्ययन-अध्यापन कर ले तो अच्छा रहे। इसलिये वे स्वयं गोचरी और सेवाकार्य कर लेते। बालक मुनि ज्ञानार्जन में लग गया। ‘संयोग हटा’-पिता-मुनि स्वर्गस्थ हुए। अब उनका दायित्व सहयोगी मुनियों ने संभाला। एक दिन पुत्र-मुनि भी भिक्षा के निमित्त बाहर निकला। प्रथम बार ही यह प्रसंग आया था। अब पुत्र-मुनि को मालूम हुआ कि यह भिक्षाचर्चा कितना कठिन तप है, नीचे

तप्त धरती और ऊपर सूर्य का ताप। मुनिजी गरमी में थोड़ी दूर चले तो व्याकुल हो गये। पसीना चूने लगा। चेहरा लाल-लाल हो गया। गति में अंतर आ गया। विचार करने लगे कि कहाँ छाया हो तो विश्राम कर लें। दो मिनट रुककर विश्राम भी लिया। फिर सोचा-आखिर तो जाना पड़ेगा। थोड़ा आगे बढ़े। मन मजबूत किया, पर पैर जलने लगे, फिर छाया की आकांक्षा जागी। एक मकान की छाया में खड़े हो गये। सोचने लगे, धन्य हैं वे महात्मा जो इस तप की आराधना करते हैं। कितना भयंकर परीषह है, कितनी साधना करनी होती है। वे गर्मी में कैसे विचरण करते होंगे। अनेक विचार उठने लगे। अपने-आप के लिए भी विचार किया। मैं कैसा कायर हूँ, गर्मी मेरे लिए असत्य है। कैसा जीवन है मेरा? इधर वे विचारों के झूले में झूल रहे थे उधर ऊपर गवाक्ष में बैठी बहिन ने उनके विचार पढ़ लिये। दासी को भेजा-मुनि को अन्दर बुला लो। दासी पहुँची, निवेदन किया-पधारिये, पधारिये भिक्षा के लिये। मुनि ने देखा, पुण्य योग है। मुझे भिक्षा चाहिए और आमंत्रण मिल रहा है। यदि धर्म-स्थान में आमंत्रण दिया जाता तो मुनि का कल्प नहीं रहता। यदि कोई धर्म-स्थान में आकर कहे कि आज चलना होगा या ‘काले म्हारे पारणो है, ध्यान राख जो।’ तो इस संबंध में प्रभु कहते हैं कि ऐसे अवसर पर साधु विराम ले। कोई कहे, अमुक तारीख को मेरा ध्यान रखना, तो साधु वहाँ नहीं जाये। यदि वह जाता है तो संयमी जीवन में दोष लगता है। उस स्थिति में वह संयोग से मुक्त नहीं रह पायेगा, जुड़ता चला जायेगा। किन्तु यदि साधु भिक्षा के लिए बाहर निकल गया है तो मार्ग में निवेदन किया जा सकता है। मुनि ने विचार किया और बहन के निवेदन किया जा सकता है। मुनि ने विचार किया और बहन के निवेदन पर भीतर चले गये। बहिन ने बड़ी भक्ति से, मनोज सरस आहार बहराया। पर्याप्त आहार लेकर मुनि जाने लगे तो बहन सामने खड़ी हो गई-‘ऐसी गर्मी, लाय पड़ रही है, कहाँ पधारोगे? यहाँ स्वतंत्र कमरे में विराजकर आहार से निवृत हो जाइये।’ मुनि ने विचार किया-वस्तुतः पहुँच पाना कठिन है। बहिन कह रही है तो क्यों नहीं यहाँ भोजन कर लूँ? वे बाहर के कमरे में भोजन कर निवृत हुए और जाने के लिये उद्यत हुए। बहन पुनः सामने

खड़ी हो गई। मधुर शब्दों में कहने लगी-‘क्या कर रहे हैं? आयुर्वेद और नीतिशास्त्री कहते हैं कि भोजन के बाद तत्काल परिश्रम नहीं, विश्राम करना चाहिये।’ मुनि ने सोचा, बहिन भावना वाली है, कुछ आकर्षण बढ़ा अतः रूक गये। मादक पदार्थों का सेवन किया था। निद्रा आ गई, चित्त-इन्द्रियाँ चंचल हो गई। फिर भी मुनि अभी सारे योगों से जुड़े नहीं थे। निद्रा पूर्ण होने पर उठकर रवाना होने लगे कि बहिन ने आकर हाथ पकड़ लिया और कहने लगी-‘क्या यह जीवन गर्मी में झुलसाने के लिए है? तपस्या करना सरल नहीं है। अभी आप मेरे साथ सुख भोगो, परिपक्व वय हो जाये तब साधु बन जाना। मुनि चंचल हो ही रहे थे, और अब तो ‘ऊंघती को बिछौना’ वाली कहावत चरितार्थ हो गई। आसन मिल गया। हाथ पकड़ने से विजातीय स्पर्श का संयोग हुआ। भीतर करन्त लगा। यह स्पर्श सुखद था, अच्छा लग रहा था। अपने-आप को स्पर्श से अलग नहीं कर पाये। परिणति क्या होनी थी, यह स्पष्ट ही है। पोशाक, ओगे, पात्रे धरे रह गये।

उधर बहुत समय तक मुनि नहीं लौटे तो मुनियों ने खोज प्रारंभ की, पर वे सड़कों पर तो थे नहीं जो मिल जाते। बन्द कमरे में थे तो कैसे मिलते? कुछ अता-पता नहीं, क्या किया जाये, सभी चिन्तित थे परन्तु पुत्र-मुनि तो आमोद-प्रमोद में घुल गये थे और भूल गये थे संत जीवन का अनुशासन और गुरु चरणों का प्रताप। संयोग से जुड़कर आत्मा अपने को भी विस्मृत कर चुकी थी। संयोग ही उभरकर आत्मा के सामने आने लगे थे और आत्मा उन्हीं में भ्रमित हो गई थी।

परीषह से विचारधारा टूटी थी, चंचलता बनी थी और फिर संयोग को आगे खिसकते देर नहीं लगी थी। इसीलिए प्रभु कह रहे हैं-हे साधक! ऐसे संयोगों में अपने आप को रमाना मत, यदि तूने तनिक-सी दुर्बलता भी दिखाई तो फिर ये संयोग के कीटाणु तुझे नष्ट करके ही छोड़ेंगे। कैंसर के कीटाणु का तो फिर भी इलाज है पर ये कीटाणु अंडे देकर इतना फैलाव कर लेते हैं कि जीवन पूर्णितः जर्जित हो जाता है।

प्रभु ने संकेत दिया है कि अणगार कैसा हो, भिक्षु का स्वरूप कैसा हो और उनकी मानसिकता कैसी हो। पहले हम संयोग को जान

लें जो आत्म-पतन का कारण है और जिससे रहित होने पर ही शांति मिलती है। उस माता ने, जो साध्वी बन चुकी थी पर जिसका सहज ममत्वभाव अभी भी मुनि के प्रति था, जब सुना कि पुत्र लापता हो गया है, खोज-खबर से भी नहीं मिला है तो साध्वी होने के बावजूद ममत्व का जो अंश उसमें था वह चिन्तन और चिन्ता से गहरा होता चला गया। स्थिति यह बनी कि मस्तिष्क का नियंत्रण भी उसके वश में नहीं रहा। इधर से उधर पुकार लगाती दौड़ रही थी-अरणक, तुम कहाँ हो! अरणक, तुम कहाँ हो! अरणक....अरणक....! संयोग से वह उसी मकान के पास गुजरी जिसमें वह मुनि आमोद-प्रमोद में रत था। मुनिजी के कानों में जब वह करुण पुकार पड़ी तब वह सोचने लगे-अरे, यह आवाज तो परिचित लगती है। अरे, ये तो माता के शब्द हैं। उसने खिड़की खोली, देखा-माता बेतहाशा दौड़ रही थी और विलाप कर रही थी। अरणक अभी संयोगों से गहरा नहीं जुड़ा था। अतः मुनि-स्वभाव अंगड़ाई लेने लगा-ओह, मेरे कारण माता को इतनी तकलीफ! आह, धिक्कार है मुझ पर जो मैंने साधुत्व स्वीकार किया, पर पतित हो गया! वह मकान से उतर कर माता के चरणों में गिर पड़ा-‘मातेश्वरी, क्षमा कर दो। यह पुत्र थोड़ा भटक गया था।’ माता ने देखा पर उसे सहसा विश्वास नहीं हुआ। गौर से देखा। पुत्र को पहचाना और धीरे-धीरे सहज होने लगी। फिर आश्चर्य से बोली-‘बेटा अरणक।’ अरणक ने भी विषादपूर्ण स्वर में उत्तर दिया-‘मातेश्वरी....।’ साध्वी माँ ने प्रश्न किया-‘ये क्या दशा हो गई है तेरी?’ अरणक की आँखें झुक गई, हाथ जुड़ गए, अविरल अश्रुधार बहने लगी। माता ने उलाहना दी, तुमने उच्च खानदान में जन्म लिया था। अरणक ने बिलखते हुए कहा-‘माँ क्षमा करो, सुबह का भूला शाम को घर आ जाये तो भूला नहीं कहलाता। मैं भूल गया था। परीषह से घबरा गया था। आत्मा की अतल गहराई में नहीं पहुँच पाया था। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जिस गर्मी से घबराया था अब उसी गर्मी को अपना वही शरीर सुपुर्द करता हूँ जिसे बचाने की मैंने कोशिश की थी और जिसकी सुख-सुविधा की चाह ने मुझे भटका दिया था।’ पहुँचे मुनि गुरु चरणों में। आलोचना की, गुरु ने पुनः नई दीक्षा दी। दीक्षोपरान्त गुरु आज्ञा से संथारा ग्रहणकर तप्त शिला

पर लेट गये! देह मानो मक्खन की भाँति पिघलने लग लगी पर वे महामुनि समता के झूले में झूलते रहे। देह से पूर्ण अनासक्त! संयोग-भाव से सर्वथा मुक्त! भोग के दलदल में जाती हुई आत्मा को साधना के शिखर पर आरूढ़ कर दिया। प्रभु ने कहा है-

आयावयाही चयसोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खां।

दशवै 2/5

यदि चित्त चंचल होकर संयोग की ओर दौड़ रहा है और अंकुश भी नहीं है तो वैसी स्थिति में सुकुमारता का त्याग कर, आतापना लो। आतापना से मनोबल दृढ़ होगा। मनोबल की दृढ़ता से परीष्ठों के उपस्थित होने पर भी व्यक्ति घबराता नहीं है। संयोग से जुड़ना और रहित होना केवल मुनि के लिए ही नहीं कहा जा रहा है, जहाँ-जहाँ भी संयोग का प्रसंग है उन सभी स्थितियों के संदर्भ में कहा जा रहा है। गृहस्थ दशा में रहते हुए सम्यक् दृष्टि के लिए कहा गया है-

अहो समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुंब प्रतिपाल॥

अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्युं धाय खिलावे बाल॥

परिवार में रहते हुए भी उससे जुड़े नहीं। कमल कीचड़ में पैदा होकर भी निर्लिप्त रहता है लेकिन उसके डंठल की जड़ें बहुत गहराई तक पहुँच जाती हैं। जिन लोगों ने थोकड़ों का अध्ययन किया होगा वे जानते होंगे कि वनस्पति की अवगाहना एक हजार योजन ज्ञाज्ञेरी है। चार कोस का एक योजन होता है। यह अवगाहना कमल नाल की अपेक्षा से बताई गई है। उस गहराई में खिलकर भी कमल निर्लिप्त है पर उसकी जड़ें के रेशे आगे फैलते जाते हैं। इसी तरह व्यक्ति संयोगों में उलझकर मकड़ी की भाँति उलझ जाता है। इसलिए प्रभु कह रहे हैं-

एगो मे सासओ अप्पा, णाण दंसण संजुन्तो।

सेसा मे बाहिरा भावा, सब्बे संजोग लक्खणा॥

आत्मा ही शाश्वत है परन्तु यहाँ भी उसके हाथ ज्ञान-दर्शन का संयोग बताया है। उसके अतिरिक्त जो जुड़ने वाली दशाएँ हैं वे संयोग लक्षण है। वस्तुतः वे संयोग-भाव आत्मा के नहीं हैं। योग-प्रवृत्ति होने पर

यदि भावलेश्या विशुद्ध है तो संबंध गहरे नहीं होंगे अन्यथा कर्म कीटाणुओं का निष्कासन कठिन हो जायेगा। प्रभु ने कहा है—अरणक मुनि के जीवन को देखें, वे संयोग से जुड़े पर अलग भी हो गए तथा तपश्चरण से परीषहों के सहने की क्षमता अर्जित कर ली। वह क्षमता हमारे भीतर भी है पर जब तक ममत्व का संयोग गहरा है तब तक आत्मबल और मनोबल दृढ़ नहीं होगा और हम छोटी-छोटी सी बात पर घबरा जाएंगे। कवि आनन्दघनजी ने कहा है—‘सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर सेव।’ साधना के लिए उद्यत हो तो भय को दूर करो। इस प्रकार भिक्षु के विनय का स्वरूप तथा अणगार का स्वरूप, हमें एक-एक कर समझना होगा क्योंकि केवल पोशाक साधुता नहीं है। साधुता को भाव-धारा में ढालें तथा आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चरित्र का पुट हो तो ही कर्म-कीटाणुओं का निरोध हो सकेगा। तभी साधुता टिक पायेगी। परभाव से हटना होगा। साधु के लिए 27 गुण बताये गये हैं उनमें ‘भाव सच्चे’ कहा गया है। गहराई से चिंतन करें कि कारण सच्चे, योग सच्चे और भाव सच्चे होने क्यों जरूरी हैं। इन सभी को समझने पर और भिक्षु का स्वरूप समझने पर ही विनय का स्वरूप समझा जा सकेगा। पहले संयोग को जान लें, फिर इससे अलग होने की विधि और निषेध-मार्ग को जानकर आगे बढ़ें तो हमारे भीतर आनंद के स्रोत प्रवाहित होंगे। भावधारा निर्मल होगी तो उसमें कर्म-कीटाणु नहीं रह पायेंगे और हम प्रभु सुपाश्वर्नाथ की श्रेणी में पहुँच जायेंगे।

भाद्रपद कृष्णा 10

7-9-96

13

वंदन की सही विधि और उसकी महिमा

श्री सुपाश्वर्जिन वंदीए, सुख संपत्तिनो हेतु, ललना।
शांत सुधारस जलनिधि, भवसागरमां सेतु ललना॥

सुपाश्वर्जनाथ भगवान् के चरणों में वंदन करने की बात कविता की उपर्युक्त कड़ियों में कही गयी है। पर प्रश्न है कि वंदन क्यों किया जाये? वंदन किस अवस्था में लाभदायक बनता है, यह भी विचारणीय है। हम नमस्कार मंत्र का प्रतिदिन उच्चारण करते हैं क्योंकि उस प्रकार वंदन को मंगलकारी मानते हैं।

निर्युक्त गाथा में भी कहा गया है कि ये पाँच नमस्कार सभी पापों का नाश करने वाले हैं। लेकिन केवल कथन कर देने से बात नहीं बनती। देखना यह होता है कि हमारा अनुभव भी वैसा बनता है या नहीं। तोता पिंजरे में बैठकर सुन्दर सूक्तियाँ उच्चरित कर लेता है पर उन सूक्तियों के अर्थ के अनुरूप अनुभूति उसके अंतर में घटित नहीं होती। यदि हम भी प्रतिदिन नमस्कार मंत्र के अनुरूप अरिहन्त, सिद्ध आदि को नमस्कार करते हैं पर वह अनुभूति में घटित नहीं होता तो फिर वह नमस्कार सब पापों का नाश कैसे करेगा? फिर भी हम श्रद्धा से उसे सर्वपापहारी एवं मंगलकारी मानते हैं।

आज तर्क-प्रधान युग है, वैज्ञानिक युग है अतः प्रश्न होगा कि पाप का नाश होता है यह अनुभव कैसे करें? कवि विनयचंद्रजी भी सुविधनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए कहते हैं-

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिए हो, वंदत पाप पोलाय.....।

‘वंदन से पाप पोलाय’ अर्थात् दूर हो जायेंगे पर पहले यह तो ज्ञात हो कि वंदन अथवा नमस्कार कैसे किया जाय। आगम वचन निरर्थक नहीं होते हैं और यदि नमस्कार करने के बावजूद हमारे पापों का नाश नहीं होता है तो हमें खोज करनी चाहिए कि आखिर गलती कहाँ रही जो सभी को क्या, एक भी पाप का नाश नहीं हो पा रहा है।

अरिहन्त को नमस्कार करने से क्या मिलने वाला है? उन्हें क्यों वंदन किया जाय? फल जाने बिना, बिना प्रयोजन तो मंबुद्धि व्यक्ति भी प्रवृत्ति नहीं करते। फिर जो व्यक्ति जाग्रत है, प्रबुद्ध है, हिताहित जानकर कदम रखता है वह क्या नमस्कार के प्रयोजन को जाने बिना नमस्कार करेगा? तर्कशील होकर भी यदि हम ऐसा कर रहे हैं तो भी कहीं न कहीं हम भूल कर रहे हैं। क्योंकि नमन ऊँचाइ की ओर ले जाता है। कहा है-

नर की और नल नीर की, एकै गति है जोड़।

जेतो नीचो है चलै, तेतो ऊँचो होइ॥

साथ ही निर्वाण की बात भी इससे जुड़ती है। जो नमन है वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।

लघुता हमारे भीतर आती है तो निर्वाण मिलता है। हम कहते हैं- सामने वालों के लिए नमन किया जाता है तो उनको क्या मिलेगा? नमन करके हम उनके लिये व्यवधान ही उत्पन्न करेंगे, उनका उपकार नहीं करेंगे। इस कथन में गंभीर अर्थ छिपा हुआ है। ‘नमो अरिहंताणं’ में ‘नमो’ पद नमन का सूचक है, अरिहंताणं में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है अर्थात् अरिहन्तों के लिए नमस्कार। तब पूछें कि उनको क्या आवश्यकता पड़ गई कि उनके लिए नमस्कार किया जाय? यथार्थ में यह नमस्कार हमारे लिए है न कि उनके लिए। आप कहेंगे कैसे? नमस्कार अरिहन्त की तरफ है परन्तु है अपने स्वयं के लिए। आपको बात अटपटी लगेगी। आप उलझन में पड़ जायेंगे, क्योंकि बात प्रतिदिन

के संस्कारों से हटकर है। लेकिन इसके पीछे गहन चिन्तन और गंभीर मनोवैज्ञानिक सत्य छिपा हुआ है। नमस्कार से अरिहन्त पर प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि उसका परिणमन हम पर भी होता है। व्यक्ति यदि दूध, अन आदि ग्रहण करता है तो परिणमन दूध-अन पर नहीं ग्रहणकर्ता पर हो होता है। इसी प्रकार नमन का परिणमन भी नमन करने वाले के ऊपर ही होता है। जिस प्रकार कुएँ से पानी निकालने के लिए रस्सी द्वारा जब बाल्टी को उतारा जाता है, तब बाल्टी सतह पर तैरती रहती है परन्तु जब रस्सी को हिलाकर बाल्टी को नमाया जाता है, तब बाल्टी में पानी भर जाता है। व्यापारी तोलने के लिए तराजू के पलड़े को अन की ओर नमाता है तो उस पलड़े में अन भर जाता है। मजदूर मिट्टी के ढेर की ओर कढ़ाई को नमाता है। यह मिट्टी के लिए नमन नहीं, मिट्टी की तरफ नमन है ताकि उसकी कढ़ाई भर जाये। इसी प्रकार अरिहन्तों की तरफ नमन से हमारे भीतर पात्रता आती है। अरिहन्तों की ओर झुकने से अरिहन्त की अर्हता के गुण हमारे भीतर आते हैं। बाल्टी झुकती है तो भीतर की वायु बाहर निकलती है और पानी भर जाता है। उसी प्रकार जब हम मन, वचन और काया के योग को और भावों को जोड़कर अपने जीवन-पात्र को झुकाते हैं तो अर्हता हमारे भीतर समाविष्ट हो जाती है, विषय वासना की वायु भीतर से रवाना हो जाती है। हमारा मनोबल बढ़ जाता है, हमारी विल पावर स्ट्रांग हो जाती है। फिर हमारे भीतर कच्चापन नहीं रह पाता। पहले के श्रावक आस्थावान होते थे। चाहे जैसी परिस्थिति हो पर शासन से विमुख नहीं होते थे। उनके लिए सत्य यह था-

चइतु देहं न तु धम्म सासणं।

देह त्यागना मंजूर है पर धर्म-शासन का त्याग नहीं। उनमें ऐसी दृढ़ता इसलिये आती थी क्योंकि उन्होंने अरिहन्त की तरफ नमन किया होता था। अरिहन्त का अर्थ शत्रु का हनन करने वाला लिया जाता है किन्तु यह बहुत संकुचित और छोटा अर्थ है। अरिहन्त का अर्थ है-'अर्हतता' यानी योग्यता जिसके आने के बाद कुछ पाना शेष न रहे। वह सर्वशक्तिमान अवस्था है, उसके बाद शत्रु हनन की बात तो

निरर्थक ही हो जाती है। अति व्यापक विशाल अर्थ को छोड़ हम ओने-कोने में न जाएँ। यह विशालता उन्हें मिली है अन्तराय कर्म के क्षय से और इसी के बल पर वे वंदनीय, पूजनीय, नमनीय बने हैं। हम नमते हैं ताकि उनकी अर्हता, उनके गुण हमारे भीतर भी प्रविष्ट हो जायें। प्रश्न होगा कि वे प्रविष्ट कैसे होंगे? यह बहुत आसान बात है। इस सिद्धांत का एक प्रयोग किया जा सकता है। एक प्रयोग किया भी गया। एक चुहिया को ऊपर रखा गया और उसके छः बच्चों को पनडुब्बी में डालकर एक वैज्ञानिक समुद्र की हजार किलोमीटर की गहराई में नीचे पहुँच गया। उसे बतला दिया गया था कि इतने समय बाद इन्हें समाप्त करना है। निश्चित समय का उल्लेख तो नहीं किया गया था परन्तु निर्देश दे दिया गया कि आठ घंटे के बाद इन्हें समाप्त करना है एवं जिस समय समाप्त किया जाय वह समय नोट कर लेना है। पनडुब्बी में इसलिए ले गये क्योंकि उसमें रेडियो किरणें प्रविष्ट नहीं होतीं। पनडुब्बी नीचे उतारी गई। ऊपर रखी चुहिया के ए.ए.ऋ...का यंत्र लगा हुआ था। इस यंत्र में भावों के ग्राफ अंकित हो जाते हैं और अध्ययन करने वाला इन ग्राफों के माध्यम से जान सकता है कि उसके भीतर क्या भाव चल रहे हैं उसी प्रकार जिस प्रकार ए.ड.ऋ....की रेखाओं से डाक्टर हृदय गति का निर्धारण कर लेता है। चुहिया के ऊपर लगे यन्त्र पर भी ग्राफ उभरने लगे। उस ग्राफ का अध्ययन किया गया तो ज्ञात हुआ कि जब-जब नीचे उन बच्चों को क्रम से मारा गया तो चुहिया के मस्तिष्क में प्रकम्पन होने लगा, छः बार मारने पर, छः बार ही धक्के लगे जैसे गाड़ी का ब्रेक लगाने पर धक्का लगता है। जब पनडुब्बी से ऊपर आकर समय का मिलान किया गया तो ज्ञात हुआ जिस समय बच्चे मारे गए ठीक उसी समय धक्का लगा था। आत्मा का रिश्ता कितना गहरा होता है यह टेलीपैथी के सिद्धांतों से सिद्ध किया जाता है। इसी तरह अरिहंत की अर्हता की दिशा में भावधारा झुकाने पर अर्हता प्रविष्ट हो जाती है। यदि भावधारा विषय-वासना की ओर झुके तो उसके भीतर वही प्रविष्ट होगी। घड़ा झुकता है तो वायु बाहर निकलती है, उसी प्रकार व्यक्ति अरिहंत के प्रति झुकता है तो विजातीय तत्त्व, विषय वासना आदि बाहर निकल जाते हैं।

अर्हन्त तो निमित्त रूप हैं। हमारा प्रयोजन उनके गुणों को प्राप्त करना है। प्रभु ने कहा है साधु को कोई नमस्कार नहीं करे तो वह क्रोध नहीं करे। नहीं किया तो उसका क्या बिगड़ा? और कोई करे तो हर्ष, उत्कर्ष, अभिमान भी नहीं करे क्योंकि अभिमान से आत्मा नीचे गिरती है। नमन करने वाला अपनी सामर्थ्य को जाग्रत कर लेता है। सेठ माणकचंद नमस्कार महामंत्र के प्रति अनन्य आस्थावान था। वह श्रावकोचित गुणों से सम्पन्न भी था। प्राचीन काल में आज की तरह यातायात के साधन नहीं थे। सार्थ चलता था अर्थात् एक मुखिया और साथ में अन्य व्यापारी चलते थे। सेठ ने कहा-रास्ते की सारी व्यवस्था अर्थात् खाने-पीने आदि का खर्च मैं वहन करूँगा। तुम साथ मैं चलो, व्यापार करने। यदि मुनाफा हो तो बारह वर्ष में दुगुना लौटा देना। मुनाफा न हो तो मूल पूँजी लौटा देना और यदि घाटा लग गया तो उसकी पूर्ति की जिम्मेदारी मेरी है। घाटा मेरा, मुनाफा आपका। और जब कोई पुण्य पुरुष का आधार लेकर व्यापार करता है तो नुकसान लगभग नहीं होता क्योंकि सामने वाले का पुण्य जुड़ जाता है। रास्ते में पड़ाव लेता हुआ सार्थ आगे बढ़ा। एक दिन बीहड़ जंगल में पड़ाव था। सेठ ने कहा-आप सभी सो जाओ। व्यापारियों ने कहा-‘जंगल बीहड़ है, लुटेरों का भय है, धन-माल की रक्षा कैसे होगी?’ सेठ ने कहा-‘आप सभी निश्चिन्त रहिये, मैं रक्षा करूँगा।’ सभी सो गए। सेठ महामंत्र के स्मरण में लीन हो गया। अपने-आपको झुका लिया। उसकी रग-रग में श्रद्धा परिव्याप्त हो गई। ध्यान पूर्ण हुआ। सेठ ने भी आसन बिछाया, सो गया। लुटेरों ने देखा कि सब सो गए हैं अब लूट-पाट के लिये चलना चाहिये। पर यह क्या? उन्होंने देखा-सार्थ के चारों ओर पैंतीस घुड़सवार सशस्त्र पहरा दे रहे थे। चौंतीस घुड़सवार तो सर्वांग उपस्थित थे पर एक के गर्दन नहीं थी, सिर्फ धड़ था। लुटेरे विचार में पड़ गये। ये सब दिन में तो नहीं थे? अभी कहाँ से आ गए? लुटेरे मन मसोसकर रह गये। उषाकाल में जब सार्थ के व्यक्ति जागे तब वे पहरेदार जाने कहाँ चले गये थे। दूसरे दिन सार्थ रवाना हुआ, लुटेरों ने पीछा किया, पर सेठ की सशस्त्र सेना कहीं नजर नहीं आई। रात्रि में पुनः सेठ की वही प्रक्रिया रही। परिणाम भी पूर्ववत्

रहा। लुटेरे विस्मित हो गये। दिन में उपस्थित होकर लुटेरों ने सेठ से पूछा कि यह क्या चमत्कार है और रात्रि का दृश्य कह सुनाया। सेठ ने कहा—‘मुझे नहीं मालूम कि कौन सैनिक रक्षा करते हैं। अच्छा एक दिन और देखना।’ अब सेठ ने विचार किया कि महामंत्र में पैंतीस अक्षर हैं और एक-एक अक्षर का एक-एक अधिष्ठाता देव है। संभव है जब मैं तन्मयता से समर्पित होता हूँ, अरिहन्त के चरणों में सर्वस्व सौंप देता हूँ तब अरिहन्त की सेवा में रहने वाले देव अर्थात् अरिहन्त के भक्तों की सेवा करने वाले देव उपस्थित हो जाते हों। क्योंकि अरिहन्त स्वयं तो कोई सेवा लेते नहीं और हो सकता है मेरी कहीं त्रुटि होने की वजह से एक सैनिक की गर्दन गायब रहती हो अतः मुझे सावधानी रखनी चाहिये। उस रात्रि उसने बहुत सावधानी से ध्यान किया और लुटेरों ने देखा कि पैंतीस ही व्यक्ति सर्वांग उपस्थित थे।

आज व्यक्ति सोचता है कि चमत्कार कैसे हो जाते हैं? व्यक्ति जब श्रद्धाभिभूत होकर अहंतया के लिए तन्मय हो जाता है तब वह अवस्था अनिर्वचनीय होती है। लेकिन ‘सरल परम दुल्लहा’ अर्थात् श्रद्धा परम दुर्लभ है। आज यह बात ग्राफ से सिद्ध की गई है। एक व्यक्ति घोर निद्रा में है, एक ध्यान में और एक अन्य श्रद्धाभिभूत है। E.E.G. में जो ग्राफ अँकित हुए उनका अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि स्वप्न से रहित अवस्था में ही गहरी नींद आ सकती है। वह शांत अवस्था होती है, ध्यान में व्यक्ति की वासनाएँ शांत और मन तनाव से रहित शांत अवस्था में होता है, भावधारा निर्मल होती है तथा शुभ लेश्या की अवस्था बनती है। श्रद्धावान भी उतना ही शांतचित्त पाया जाता है। आज मनोविज्ञान और विज्ञान ने जैन सिद्धांतों को सिद्ध कर के दिखा दिया है जबकि हम आज तक सत्य खोज नहीं पाये हैं। कहा जाता है कि जब व्यक्ति श्रद्धाभिभूत हो जाता है तो उसमें अल्फा किरणों का संचार होने लगता है। वायुमंडल, मस्तिष्क सब शांत हो जाते हैं। कहीं भी दुःख-दर्द का लेश भी नहीं रहता पर श्रद्धा परम दुर्लभ है। अवस्थाओं के आधार पर निर्मित श्रद्धा प्रतिकूलता में टिक नहीं पाती। विचार बन जाते हैं कि हम दर्शन के लिए आये पर दर्शन नहीं हुए, मांगलिक नहीं मिली तो

श्रद्धा हवा में उड़ जाती है। आपने संतों को वंदन किया, संतों ने जवाब नहीं दिया। उस स्थिति में श्रद्धा घटेगी या बढ़ेगी, यह तो परीक्षण करने पर ही मालूम होगा। कहीं यह न कहने लगें जैसे नाथद्वारा के पट बंद रहते हैं वैसे ही वहाँ जाओ (संत दर्शन के लिए) तो पट बंद मिलते हैं। संतों ने ‘दया पालो’ नहीं कहा तो कहीं भावनाओं पर चोट तो नहीं लगी? संभव है संत अध्ययन, अध्यापन या अन्य संयमी चर्या में व्यस्त हों अतः ध्यान न दे पाये हों इसलिये उनके व्यवहार पर विचार नहीं करना चाहिये। ऐसा होने पर ही ज्ञात होगा कि आपकी श्रद्धा की क्या-कुछ अवस्था है।

प्रभु अरिष्टनेमि द्वारिका में विराजमान थे तभी श्रीकृष्ण के दो पुत्रों में परस्पर मात्सर्य उत्पन्न हो गया। एक सोचता था कि पिताजी मुझे नहीं दूसरे को ज्यादा चाहते हैं और दूसरा सोचता है कि मुझ पर पिता का कोई स्नेह भाव नहीं है, हालांकि श्रीकृष्ण के मन में ऐसा कुछ नहीं था। लेकिन जब उन्होंने उनकी भावना जानी तो कहा-भगवान उद्यान में विराजित हैं। जो प्रातःकाल पहले जाकर उन्हें नमस्कार करेगा उसे पुरस्कृत करके अमुक क्षेत्र का राज्य दे दिया जायेगा। दोनों सो गये। एक ने अर्धरात्रि के बाद उठकर विचार किया-यदि मैं जल्दी वहाँ पहुँच जाऊँ तो सूर्योदय के साथ ही मैं प्रथम वंदन कर सकूँगा और पिताजी द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार का अधिकारी बन जाऊँगा। वह शीघ्र ही वहाँ पहुँच गया और वंदन करते हुए प्रभु के पैरों को हिला-हिला कर कहने लगा-‘भगवन् मैं वंदन कर रहा हूँ भगवन् मैं वंदन कर रहा हूँ।’ तीन बार पैरों को झँझोड़कर वंदन किया। दूसरे ने सोचा-भगवान् अरिष्टनेमि सर्वज्ञ हैं। कहीं से भी वंदन किया जाय, उन्हें परिज्ञान हो ही जायेगा। उसने प्रभु की दिशा में अपने-आपको नियोजित कर लिया और पूर्ण श्रद्धाभाव तथा मन, वचन और काया की तन्मयता के साथ वंदन किया। प्रथम पुत्र पहुँचा पिता के चरणों में। कहने लगा-‘मैं विजयी हुआ हूँ अतः मुझे पुरस्कार दीजिये।’ श्रीकृष्ण ने कहा-‘इसका निर्णय मैं नहीं, भगवान ही करेंगे। चलो प्रभु के चरणों में।’ वे पहुँच गये और प्रभु के समुख अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। प्रभु ने फरमाया-‘जिस व्यक्ति ने घर

पर बैठकर अपने पात्र को अरिहन्त की तरफ झुकाया, अपने भीतर सामर्थ्य पैदा की, उसका ही वंदन फलीभूत होगा और जो यहाँ आया उसने मात्र कायक्लेश किया, उसके भावों में पुरस्कार और राज्य समाया हुआ था।' देखिये, स्वयं त्रिलोकीनाथ कह रहे हैं कि साक्षात् वंदन करने वाले ने कायक्लेश किया। घर से ही वंदन करने वाले ने टेलीपैथी सिद्धांत के अनुसार अपने भीतर किरणें प्राप्त कर लीं।

ऐसे भाव-वंदन से ही पापों का नाश हो सकता है। सेठ माणकचंद ने श्रद्धाभिभूत होकर वंदन किया तो वह यर्थाथ में फलदायी बना। नमन से निर्वाण की भी समझ ली जानी चाहिये। निर्वाण कब होगा? जब निर्वाण के प्रति अपने पात्र को झुकाया जायेगा। यदि हमारे भीतर काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि के भाव हैं तो वे सुविधानाथ भगवान् की वंदना से बाहर निकलेंगे और उनके स्थान पर गुणों का प्रवेश होगा। सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावगं-हम सुनकर ही कल्याण और पाप को जानते हैं, अब निर्णय आपको करना है कि हम पात्र किधर झुकायें। हम जानते हैं कि व्यापारी की ओर झुकने वाला व्यापार के गुर प्राप्त कर लेता है। एक पहलवान के प्रति नमने वाले में वे गुण समाविष्ट हो जाते हैं जो पहलवान में हैं। और शिष्य गुरु के प्रति समर्पित है तो उसके लिये उत्तराध्ययन सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में कहा गया है-'वसे गुरुकुले निच्चं। बारह वर्ष तक गुरु के सानिध्य में निवास करने से, गुरु की उपसम्पदा स्वीकारने से, गुरु के गुण शिष्य में समाविष्ट हो जाते हैं। जिसका रुद्धान जिधर होगा व उधर आगे बढ़ जाएगा। रुद्धान यदि जुआ, शराब आदि व्यसनों के प्रति होगा तो उनमें उसकी क्रिया फलित होगी। अर्हत् की दिशा में रुद्धान होगा तो आर्हता प्राप्त होगी। इन बातों को समझकर अपने हिताहित का विवेक करें।

दशार्णभद्र राजा प्रभु के दर्शनार्थ आडम्बर के साथ जाने लगे। विचार किया-मैं इस प्रकार जाऊँगा जैसे कोई भी नहीं गया होगा। उसने विशाल चतुर्गिणी सैना तैयार करवाई। उधर शक्रेन्द्र भी तैयारी में लगे। उन्होंने देखा जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में राजा दशार्णभद्र को। अरे! ये दूध के भीतर खून की बूंदें क्यों? इस प्रकार की स्थिति से वह प्रभु के प्रति

झुक नहीं पायेगा। शक्रेन्द्र ने चौसठ हजार हाथियों की रचना की। हाथी भी ऐसे, जिनके पाँच-पाँच सौ मुख थे। एक-एक मुख पर आठ-आठ दाँत थे और एक-एक दाँत पर आठ-आठ बावड़ियाँ थीं। एक-एक बावड़ी में हजारों-हजारों कमल के फूल खिले थे। प्रत्येक कमल के एक-एक लाख पंखुड़ियाँ थीं और प्रत्येक पंखुड़ी पर बत्तीस-बत्तीस सौ नाटक चल रहे थे। उस नाटक को शक्रेन्द्र कमल-कर्णिका पर स्थित सिंहासन पर आरूढ़ होकर देख रहा था। शक्रेन्द्र अकेला ही कमल-कर्णिका पर नहीं बैठा था वरन् उसका सम्पूर्ण परिवार भी कमल-कर्णिका पर बैठ कर नाटक देख रहा था। इस प्रकार की विशाल गज-सेना के साथ शक्रेन्द्र आकाश मार्ग से नीचे उतरा।

उधर दशार्णभद्र राजा की सवारी और इधर शक्रेन्द्र की सवारी। दशार्णभद्र राजा ने सोचा-अरे! यह कैसी अद्भुत रचना है! मेरा तो अवमूल्यन हो गया। मैं शक्रेन्द्र की बराबरी नहीं कर सकता किन्तु अपयशमय जीवन भी नहीं जी सकता। तब मैं अपने जीवन को कैसे यशस्वी बनाऊँ? प्रभु की देशना सुनी, वैराग्यरंजित हुए, साधु बन गये और समवशरण में नवदीक्षितों की श्रेणी में जाकर बैठ गये। शक्रेन्द्र ने वंदन करते हुए कहा-‘यह क्षमता मुझमें नहीं है। भौतिक सम्पत्ति में मैंने बराबरी कर ली पर मुनि जीवन की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।’ प्रभु की एक देशना में उस सम्राट् ने अपना पात्र मोड़ दिया। हम भी सुनते हैं पर परिणमन क्यों नहीं होता? हम तर्क में उलझ जाते हैं। जहाँ हमारे मन में हम किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं, वरन् गुणों के प्रति झुकते हैं जिससे वे गुण हममें भी समाविष्ट हो जायें। गुण किसी की बपौती नहीं। गहरी श्रद्धा के साथ वंदन में लीन हो जायें तो फिर ‘सब्ब पावप्पणासणो’ की स्थिति यथार्थ में बन जायेगी और वह हमारी अनुभुति में गुणोत्कर्ष करने वाली होगी। अतः हमें अपनी भावधाराओं को मोड़ना होगा। आज व्यक्ति तर्क करता है कि पर-दर्शनी को क्यों वंदन नहीं करना? जो गच्छ से बाहर किया गया है उसके प्रति श्रद्धा, वंदन क्यों नहीं? आनंद श्रावक ने प्रभु से प्रतिज्ञा ली थी-‘मुझ पर-दर्शनी से परिचय वंदन, वार्तालाप करने का त्याग है।’ प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ने अपने

श्रावकों को इतना संकीर्ण क्यों बना दिया? समाधान है—यह संकीर्णता नहीं है अपितु यह निर्देश है क्योंकि जिस ओर पात्र झुकेगा तदनुरूप गुणों की अवाप्ति होगी। इसीलिए प्रभु ने कहा है—परमार्थ को जानने वालों की सेवा-भक्ति करो ताकि परम अर्थ-मोक्ष-निर्वाण की प्राप्ति हो। यदि घड़ी के पैण्डुलम की भाँति अस्थिर बने रहे तो इधर-उधर कहीं के भी नहीं रहोगे। एकनिष्ठ श्रद्धा के साथ वंदन विधि के सही स्वरूप को समझें। गीताजी में ऐसे व्यक्ति को श्रद्धामय पुरुष कहा गया है। ऐसे ही श्रद्धा से पूरित हृदय में आनंद का निर्झर प्रवाहित होता है। फिर कोई अवसाद भाव नहीं, कोई तनाव शेष नहीं रहता। यदि हम ऐसी श्रद्धा विकसित कर पायें तो सत्-चित्-आनंदमय अवस्था के साथ मंगलमय दिशा में प्रयाण कर पायेंगे।

भाद्रपद कृष्णा 11

8-9-96

14

संयोगों की माया

शास्त्रों में कहा गया है-

संजोगा विष्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।

इन संयोगों की माया विचित्र है। ये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। संयोग जब भावधाराओं में गहराई से संयुक्त होते हैं तब प्रसंग उस स्थिति में पहुँच जाते हैं कि आत्मा बेभान हो जाती है। भावधारा की स्थिति आत्मा के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। भावधारा जिस दिशा में प्रवाहित होती है मन भी उस ओर मुड़ जाता है। अनेक बार ऐसे प्रसंग देखे-सुने जाते हैं कि शांत-प्रशांत व्यक्ति सहसा उद्धिन हो जाता है, आवेश में आ जाता है। उसका भी कोई कारण होता है। मुख्य कारण तो भावधारा ही होती है परन्तु उसके साथ मन, वचन और काया जुड़ जाते हैं जबकि हम केवल मन को दोष देते हैं। चूल्हे पर रखी बटलोई में नीचे आग होने से उसके पानी में उफान आता है, चंचलता आती है। यही दशा मन की है।

राजा भृत्यरि बैठे हुए थे। एक व्यक्ति अमरफल लेकर पहुँचा और राजा को भेंट किया। उसने बताया कि उस फल को ग्रहण करने वाला अमर हो जात है। राजा के चित्त विचारों का प्रवाह चला-यह फल मैं किसे दूँ? रानी पिंगला मुझे बहुत प्रिय है। यदि उसे यह सौंप दूँ तो उसका सौंदर्य और रूप-लावण्य अमर हो जायेगा। राजा को यही उचित लगा और उसने पिंगला को फल दे दिया। रानी चिन्ता में पड़ गई। इस फल का मैं क्या उपयोग करूँ? यदि मैं अपने प्रेमी को अमर कर दूँ तो मेरे मनोरथ फलीभूत होंगे। रानी स्वयं हाथियों को वश में करने वाले

एक महावत पर मोहित थी। उसने फल अपने प्रेमी को सौंपकर उसके गुण भी बता दिये। वह महावत एक वेश्या पर अनुरक्त था। उसने वेश्या से कहा—‘प्रिये, तुम्हारे लिए अमरफल लाया हूँ। इससे तुम्हारा रूप, यौवन अमर हो जायेगा।’ वेश्या ने फल को देखा और चिन्तन किया कि यदि मैंने फल को खा लिया तो संसार में अपनी अमरता से पापाचार ही बढ़ाऊँगी। मेरी तो जिंदगी पाप में ही बीत रही है, इसे क्यों बढ़ाऊँ। अच्छा तो यह होगा कि यह फल मैं किसी संत अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति को सौंप दूँ ताकि वह अमर होकर इस धरा पर संत भाव का प्रचार करे और नीतिकाना का वातावरण बनाये। वह विचार करने लगी कि ऐसा नीतिवान संत पुरुष कौन हो सकता है। उसे ध्यान आया—हाँ, राजा भर्तृहरि नीतिवान है और प्रजावत्सल भी है। क्यों न यह फल उन्हीं के सुपुर्द कर दूँ। और वह पहुँच गई राजा के पास। राजा ने ज्योंही वह फल देखा तो सोचने लगे कि अरे! यह फल तो कुछ समय पहले मेरे पास था। इसके पास कैसे पहुँच गया? मैंने तो रानी को सौंपा था। राजा ने वेश्या से पूछा ‘तुम्हें यह फल कैसे मिला? सत्य-सत्य कहना अन्यथा भारी दंड दिया जायेगा।’ वेश्या प्रकम्पित होने लगी। यह क्या बात है? उसने कहा—‘यह फल तो मुझे महावत से प्राप्त हुआ है।’ वेश्या को एक ओर बैठने का निर्देश देकर राजा ने महावत को बुलाया। अमरफल राजा के सामने पड़ा था। महावत उपस्थित हुआ। राजा ने संकेत करते हुए पूछा, ‘यह फल कहाँ से लाये?’ पहले तो उसने बताने में आनाकानी की पर मार के डर के सामने भूत भी भागते हैं।

भूतों की बात पर पूज्य गुरुदेव द्वारा वर्णित एक कथा याद आ गई। एक सेठानी पर अक्सर भूत आ जाता था। वह दाँत बंद कर लेती और शरीर कड़ा करके गिर जाती। परिवार वाले परेशान होते, पता नहीं क्या बीमारी है? डॉक्टर से भी इलाज करवाया पर भूत तो ऊपर से आता था। उसका इलाज कैसे होता? भूत निकालने का उपचार एक नायन जानती थी। जब भी प्रसंग पड़ता उसे बुलाया जाता। वह कमरा बंद करके उपचार करती और हर बार पाँच रुपये की भेंट प्राप्त करती। एक दिन सेठ ने विचार किया—यह भूत नायन ही निकालना क्यों जानती है?

यह कला हमें भी सीख लेनी चाहिए, कदाचित् नायन न रहे तो उपचार तो हम कर लें और व्यर्थ में पाँच रुपये का खर्च भी न हो। उन्होंने नायन से पूछा तो उसने कहा- आपके सीखने का फल नहीं होगा। सेठजी उस समय तो चुप हो गये पर सीखने का फल नहीं होगा। सेठजी उस समय तो चुप हो गये पर सीखने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। एक दिन सेठानी के पुनः तकलीफ हुई। नायन को बुलाया गया। सेठजी ने कमरे के द्वार पर छिद्र बना लिया था। नायन ने कमरा बंद किया। सेठजी उस छिद्र में देखने लगे कि यह क्या प्रयोग करती है। नायन ने सेठानी का नाक पकड़ा, हाथ में एक बड़ा पत्थर लिया और कहने लगी, 'दाँत खोलती है या नहीं वरना तोड़ तेरी बत्तीसी।' और सेठानी का भूत उतर गया। सेठजी भी जान गए कि डर के सामने भूत भागते हैं। अस्तु, राजा ने भी महावत को भय दिखाया। उसने बात उगल दी- 'यह मुझे महारानी से मिला है।' राजा को भयंकर क्रोध आया। मैंने रानी को फल दिया था तो क्या....? लेकिन राजा तुरंत ही संभल गया। चिन्तन का प्रवाह उमड़ा। राजा को संयोग की दुर्बलता समझ में आ गई कि भावधारा में बहकर मैंने रानी से संयोग कर रखा है। दूसरे ही क्षण क्रोध बोध में परिणत हो गया। त्रुटि मेरी है, मैंने भावधारा में पिंगला को जोड़ा है अन्यथा मुझे क्यों पीड़ा होती?

हम जानते हैं कि दुर्घटनाएँ होती हैं और कई व्यक्ति बुरी तरह से घायल हो जाते हैं पर यदि उनसे हमारा पारिवारिक संबंध होता है अथवा वे हमारे आत्मीय होते हैं तो ही हमें व्यथा होती है क्योंकि भावधारा में उनके प्रति हमारा संयोग होता है। कभी-कभी व्यक्ति भान भूल जाता है। जब कृष्ण की आत्मा देह से रवाना हो गई तब बलदेव, जो कृष्ण के बड़े भ्राता थे तथा कृष्ण से अनन्य रूप से जुड़े हुए थे, को भीषण व्यथा हुई। कथा भाग में आता है कि वे उस निर्जीव शरीर को लेकर घूमते रहे। वे मानने को ही तैयार नहीं थे कि कृष्ण उस शरीर में नहीं रहे थे। लेकिन जब उन्हें बोध हुआ तो वे समझ गये कि भावधारा के संयोग से ही उन्हें दुःख हुआ था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि संबंध गहराता जाता है तो मुक्ति की स्थितियाँ भी दूर होती

जाती हैं। प्रभु भी यह कह रहे हैं। राजा भर्तृहरि को भी बोध हो गया—यदि संयोग नहीं जोड़ूं तो दुःख भी नहीं होगा। यह संयोग ही सांसारिकता है। कभी-कभी संत कहते हैं—

दुनिया दुःखकारी, तू छोड़ सके तो छोड़, दुनिया दुःखकारी।

क्या करना पड़ता है दुनिया में? अठारह पापों का व्यापार। यदि सम्यक्त्वी है तो मिथ्यात्व टल जायेगा। केवल संसार बसाने के चक्कर में व्यक्ति न जाने क्या-क्या करता है? पहले वह संसार का नक्शा भावधारा में बनाता है फिर आगे महल-निर्माण में जुट जाता है। संयोग जुड़ने पर ही द्वंद्व की अवस्था बनती है। क्योंकि ज्यों-ज्यों धन, भोग आदि बढ़ते हैं त्यों-ही-त्यों उनकी लालसा भी बढ़ती जाती है। कहा भी है—जिमि प्रतिलोभं लोभ अधिकार्द। संयोग की इस महिमा को राजा ने समझ लिया और उसका क्रोध हवा हो गया। मानो सुलगती आग पर बर्फ की शिला आ गिरी, आवेग शांत हो गया। भावधारा का प्रवाह दूसरी ओर मुड़ गया और उन्होंने एक निर्णय किया। यह सब तो मेरे द्वारा ही किया गया है, मेरे ही कार्यों का परिणाम है—‘कङ्डाण कम्माण न मोक्ख अत्थि’ कृत कर्मों के भुगतान बिना मुक्ति नहीं हो सकती। राजा ने सत्य की अनुभूति कर ली और इसके बाद उनके जीवन का प्रवाह ही बदल गया। उनकी कथा से हम सभी भलीभाँति परिचित हैं।

पांजल योग दर्शन में कहा गया है—

चित्त नदि उभयतो बहती, बहती पापाय च पुण्याय च।

अर्थात् यह चित्त रूपी नदी पुण्य और पाप दोनों ओर बहती है। राजा ने भावधारा पर संयोग की जो रेखाएँ थीं उन्हें मिटाने का उपक्रम किया था। प्रभु ने उसे निर्जरा की सज्जा दी है। राजा उठे और चल दिये। वैराग्य भाव प्रकट हुआ और उन्होंने अलख जगा ली। आज भी भर्तृहरि की कीर्ति उनके तीन शतकों के कारण अक्षुण्ण है। ये शतक हैं—(1) नीतिशतक-नीति संबंधी चर्चा (2) सौंदर्यशतक-सौंदर्य संबंधी श्लोक और (3) वैराग्यशतक-विराग की चर्चा। इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक शतक के सौ-सौ श्लोक रचे।

यह तो एक दृष्टांत था, मुख्य बात संयोगों की है जो एक भावधारा का निर्माण करते हैं और मन को अपनी ओर मोड़ लेते हैं। कामनाओं को इसीलिये मनोगत कह देते हैं हालाँकि मन कामनारूप नहीं होता। कामना तो आगन्तुक की तरह मन में आती-जाती रहती है, मन में हरदम नहीं रहती। लोग कहते हैं कि कामना मिटती नहीं पर सत्य यह है कि कामना टिकती नहीं। कामना निरन्तर नहीं रहती। वह तो छूट जाती है परन्तु मनुष्य दूसरी कामना पकड़ लेता है। यदि चित्त अथवा मन को वश में कर लिया जाय तो कामनाओं के उत्पन्न होने और विलीन होने का क्रम भी टूट जाये। उस स्थिति में मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थों से निष्पृह हो जाता है। ऐसा मनुष्य योगी कहा जाता है, क्योंकि जड़ पदार्थों से उसका संयोग टूट जाता है जैसा राजा भर्तृहरि के साथ हुआ।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये। संयोग न बने ऐसा तो मुश्किल है क्योंकि दुर्बल मन के लिये सांसारिकता से पूरी तरह विमुख हो जाना कठिन है। इस स्थिति से बचाव का अथवा इसके निराकरण का एक उपाय है—संयोग बने तो बनने दें पर संयोगजन्य सुख न लें और इस हेतु दृढ़ रहें। सुख लेंगे तो नया संस्कार पड़ेगा। कोई कह सकता है कि एक बार सुख लेने में क्या हर्ज है, बाद में छोड़ दूँगा। बस, यह बाद में होने वाला काम नहीं होता है—मोह उत्पन्न हो जाता है क्योंकि सुख का अनुभव उसे त्यागने की मानसिकता बनने देने में बाधा उत्पन्न करता रहता है। फिर एक बार का अनुभव आदत, प्रकृति या व्यसन बन जाता है जिसे प्रयास करके भी छोड़ना कठिन होता है। इसीलिये उद्देश्य यह रखना चाहिये कि हमें तो निवारण सुख ही लेना है, नया सुख नहीं लेना है। सुख-दुःख तो जीवन के क्रम में आते रहेंगे, पर उन्हें भोगो मत, उनके प्रति उदासीन हो जाओ। अगर सुख-दुःख भोगते रहोगे तो इनका संस्कार भीतर बैठ जायेगा, फिर उसको दूर करने में दूर लगेगी।

आप सोचेंगे—यह कार्य तो बहुत कठिन है। संयोगों से अपने—आप को अलग करें भी तो कैसे, वे तो बिना बुलाये आते हैं। आते हैं तो आने दो। बस, अपने चित्त को दृढ़ रखो। दृढ़ता से मानो, विश्वास करो कि

यह जो-कुछ आ रहा है, मेरा नहीं है, मेरे लिये नहीं है। जितना दृढ़ आपका चित्त होगा उतना ही विलक्षणता आप में आयेगी और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि को जीतने की ताकत आ जायेगी। यह ताकत लेने के लिये प्रयास भी नहीं करने पड़ेंगे, केवल चितिशक्ति में स्वयं को स्थित करना होगा। सांसारिक आकर्षणों और विकर्षणों को जीतने का इससे सरल कोई अन्य उपाय नहीं है। संयोगों की विचित्र माया से छुटकारा पाने का भी यही सरलतम मार्ग है।

भाद्रपद कृष्णा 12

9-9-96

15

प्रयुषण मुक्ति का संदेश

मन की दो अवस्थाएँ हैं—एक है उपाधि, दूसरी समाधि। जहाँ उपाधि का संबंध जुड़ता है वहाँ आधि-व्याधि भी संयुक्त हो जाती हैं। उपाधि मनोरम, मनोहर, मनोज्ञ लगती है। तभी यदि उपाधि का सूचन हो तो व्यक्ति का मन प्रफुल्लित हो जाता है। पर जो उपाधि एक क्षण के लिये प्रफुल्लता देती है वही कालान्तर में व्यक्ति के मानसिक रोग का कारण और शारीरिक व्याधियों का उद्गम स्थल बन जाती है। उपाधिजन्य अवस्थाएँ एक नहीं, अनेक प्रकार की होती हैं। वे पद, साधना, धन आदि किसी भी रूप में हो सकती हैं पर यदि व्यक्ति उपाधि के साथ जुड़ता है तो उसका प्रभाव पड़ता है। यद्यपि ऊपर से कुछ दिखाई नहीं देता पर वह व्यक्ति तनाव, विषाद, शारीरिक बीमारियों आदि से घिर जाता है। गइराई से अध्ययन किया जाय तो अनेक बार ज्ञात होता है कि व्यक्ति स्वस्थ तो है पर उसे भूख कम लगती है, तबियत गिरी-गिरी-सी रहती है और उसका शरीर कृश होता जाता है। कारण क्या है? डॉक्टर आते हैं और परामर्श देते हैं। पास में पैसा है और एक डॉक्टर से संतोष नहीं तो किसी बड़े अस्पताल में भी रोगी को ले जाया जाता है। डाक्टर ब्लड प्रेशर, स्टूल, यूरिन, फेफड़ों आदि की कुछ जाँचें कर लेता है। लेकिन रिपोर्ट में तो कुछ नहीं आता। कहीं विकार नहीं। डाक्टर सात दिन की दवा दे देता है या कुछ टॉनिक आदि लिख देता है। पर क्या इतने मात्र से वह बीमार ठीक हो जायेगा? मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था जिसमें उल्लेख था कि आज से पाँच हजार वर्ष पहले चीन में डाक्टरों

को फीस नहीं, वेतन दिया जाता था। प्रयोजन था कि कोई व्यक्ति बीमार नहीं पड़े। डाक्टर अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रहें-यह सुनिश्चित किया जाता था। यदि कोई बीमार पड़े जाता था तो हरजाना डाक्टर को ही देना पड़ता था। उससे कहा जाता था कि तुम्हें वेतन इसीलिए दिया जाता है कि व्यक्ति बीमार न पड़े। डाक्टर भी अपने कर्तव्य के प्रति सजग व तत्पर रहते थे। हम जानते हैं कि उपचार बीमारी आने के बाद होता है पर यदि पहले ही सावधानी रखी जाये तो बीमारी आये ही क्यों? आज तो यंत्रों के माध्यम से ग्राफ लिए जाते हैं और अध्ययन करके बताया जाता है कि स्थिति कैसी है, वह स्वस्थ जीवन जी पायेगा या नहीं? आज रोग-विज्ञान का क्षेत्र बहुत विकसित हो गया है। इस दृष्टि से आयुर्वेद विज्ञान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यह बात अलग है कि आज उस चिकित्सा पद्धति को समुचित स्थान नहीं मिल रहा है। वैद्य तो नाड़ी पर हाथ रखकर ही नहीं किन्तु केवल केश देखकर भी निदान कर सकता है। पर आज मशीनों के माध्यम से होने वाले अनुसंधान जनता को विस्मित कर देते हैं। फिर भी कुछ रोग ऐसे हैं जिनका इलाज डाक्टर कर नहीं पाते क्योंकि वे भौतिक पकड़ से बाहर के होते हैं। कभी-कभी रोग तन-मन तक ही नहीं, सूक्ष्म शरीर तक पहुँच जाता है और आगे बढ़कर भावधारा से भी जुड़ जाता है।

मानसिक बीमारी मन की सीमित होती है उसे आधि कहते हैं। पर जब उपाधि भावधारा के साथ गहनता से जुड़ती है तब वह व्याधि का रूप ले लेती है। इसीलिए ऐसे संयोग आत्मसाधना हेतु तत्पर साधक के लिए उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि उसे तो संयोग से ऊपर उठकर 'विष्पमुक्कस' पर आना होता है। 'विष्पमुक्कस्स' शब्द अपने-आप में महत्वपूर्ण है। मोट तौर पर 'विष्पमुक्कस्स' का अर्थ होता है 'रहित होना' पर रहितता भी अनेक प्रकार की होती है। अड़तालीस मिनट के लिए आप भी रहित होते हैं जब आप सामायिक स्वीकार करते हैं पर साधु के लिए इस प्रकार की रहितता नहीं कही गई है। सिर्फ 'रहित' या 'मुक्त' (मुक्कस्स) से काम चल जाता तो शास्त्रकार 'वि' और 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग क्यों करते? सूत्र में प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक पद और

प्रत्येक मात्रा का महत्व होता है और अल्प शब्दों में विस्तृत बात गुम्फत होती है। सूत्रकृतांग सूत्र में साधक के लिए कहा गया है- ‘निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा’ अर्थात् अल्प शब्दों में कही जाने वाली बात को व्यर्थ ही दीर्घ न करें। जितना हो, कम से कम वाक्यों में विस्तृत बात कहने का प्रयास करना चाहिए। शास्त्र का यह आदेश है तो गणधर इस आदेश का उल्लंघन कैसे कर सकते हैं? गणधर भगवन्तों ने एक भी अक्षर या मात्रा का निरर्थक प्रयोग नहीं किया। ‘संयोग से मुक्त’ की ही बात पर्याप्त थी फिर भी उन्होंने ‘वि’ और ‘प्र’ का प्रयोग किया। इस प्रयोग के पीछे निहित उद्देश्य को समझ लें।

‘वि’ का अर्थ है-विशेष, विशेष रूप से। सामान्य रूप से आप यदि कहें कि ‘म्हारे तो राग-द्वेष काँई कोनी’ तो क्या आपको वीतराग मानकर वंदन कर लें? पर राग-द्वेष न होने का मतलब या भाव भी क्या आप जानते हैं? यहाँ ‘राग-द्वेष’ का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया गया है जिससे तात्पर्य यह है कि आप अपनी प्रकृति की सरलता का बोध करना चाहते हैं, अपने ‘वीतराग’ होने की घोषणा नहीं कर रहे हैं। यह वैसी ही बात हुई जैसे किसी की विनम्रता पर उसे देवता कह दिया जाये। देवता कह दिये जाने से क्या वह देवता हो जाता है? नहीं, वह तो दुर्बल मानव प्राणी ही रहता है। इसी प्रकार किसी साहसी व्यक्ति को ‘शेर’ कह देने से वह पशु शेर नहीं हो जाता, रहता मनुष्य ही है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से यह अर्थोत्कर्ष का एक उदाहरण ही है। ‘वि’ उपसर्ग लगाकर ‘मुक्त’ शब्द को विशेष अर्थ का वाचक बना दिया गया है और साधक को यह गहरा संकेत दिया गया है कि वह ऊपर-ऊपर से ही संयोग-रहित नहीं हो वरन् भावधारा में भी संयोग से मुक्त हो जाये। देखना यह होता है कि साधक की भावधारा से मुक्त है या नहीं। यदि नहीं है तो वह मन पर आक्रमण करेगी और उपाधि के कारण साधक आधि-व्याधि के चक्कर में पड़ जायेगा। इस प्रकार ‘वि’ उपसर्ग विशेष संकेत का माध्यम बन गया है।

यदि सिर्फ ‘वि’ का ही प्रयोग होता तो भी काम चल जाता अर्थात् विमुक्तकस्स, तब विमोक्ष-विमुक्ति अर्थ हो जाता परन्तु गणधर

भगवंतों का अभिप्राय इससे भी अधिक विशिष्ट की और संकेत करना था इसलिये 'प्र' का प्रयोग भी किया गया है। 'प्र' अर्थात् प्रशस्त। यह प्रकर्ष का द्योतक भी है। यहाँ यदि प्रकर्षण अर्थ लिया जाय तो अर्थ ध्वनित होगा कि तुम्हारी संयोग से मुक्ति प्रकर्ष से अथात् लम्बे समय तक, जीवनपर्यन्त के लिए हो। साधु अड़तालीस मिनट के लिए नहीं, जीवनपर्यन्त के लिए मुक्त होता है। स्वाध्याय तो हम कई बार करते हैं पर यदि उसकी गहराई में बैठें तो ही 'विशेष' और 'प्रकर्ष' को समझ पायेंगे। एक-एक पद में साधना का निष्कर्ष भरा हुआ है। इसीलिए तीर्थकर की वाचा को 'अतल' कहा गया है। जिसका तल नहीं है, जो इतनी गहरी-इतनी गहरी है कि उसमें जितने अधिक निमज्जित होते जाओ उतनी ही अधिक साधना की निष्पत्ति होगी और उतना ही अधि क रस प्राप्त होगा। पर आज हमारी मानसिकता ही बिगड़ गई है। पहले कहते थे-'गुरु बिना ज्ञान नहीं', पर आज कहा जाता है गुरु होता कौन है? हमारे पास शास्त्र मौजूद हैं, प्राकृत नहीं पढ़ना जानते तो क्या हुआ, हिन्दी पढ़ लेंगे। पर पढ़ने मात्र से वह ज्ञान हासिल नहीं होगा। नन्दीसूत्र साक्षी है, उसमें कहा है कि एक-एक पद के अनंत गम, अर्थ होते हैं। मैं तो 'विष्पमुक्कस्स' का एक ही अर्थ कर रहा हूँ पर विशेष क्षयोपशम ज्ञानी इसकी विशेष व्याख्या कर सकते हैं। विभिन्न तौर-तरीके से उपाध्याय यशोविजयजी ने एक ही गाथा की चार माह तक व्याख्या की तो भी वे सम्पूर्ण अर्थ नहीं कह सके। चार माह तो क्या चार वर्ष और चालीस वर्ष भी कम हैं। उसके बाद भी कहना होगा 'नेति-नेति'। नेति अर्थात् न इति। समुद्र विशाल है, अभी तो हम उसकी सवाल में बैठे हैं। भरती को ही नहीं माप पाये हैं तो समुद्र-मापना तो दूर की बात है। प्रभु कह रहे हैं-एक पद के अनंत गम अर्थात् अर्थ हैं पर हम कहाँ जान पायेंगे। हम तो कह भी देंगे अनंत गम कैसे हो सकते हैं? परन्तु इसे सिद्ध किया जा सकता है।

बात आज प्रारंभ हुए इस पर्युषण पर्व से ही शुरू करें। मैं कहूँगा कि आज हमारे पर्व की आराधना नशे से बढ़कर कुछ नहीं है। जैसे शराब की दूकान पर पहुंचने वाला शराब की ओर आकृष्ट हो जाता है

वैसे ही हम भी पर्युषण पर्व पर आ रहे हैं और जब आ ही गये तो विचार करते हैं कि आराधना करनी है। इस पर विचार के बाद नवरंगी-पंचरंगी तप-त्याग कर लेते हैं। पर विचार करिए, पर्युषण पर्व की आराधना करने वाला कौन है-

हूँ कौन छूँ, क्या थी थयो, मुं स्वरूप छे म्हारो खरू॥

हूँ कौन छूँ को जाना या नहीं? यदि नहीं तो नशा है, बेहाशी है। हम ऊपर से बहुत-कुछ कर लेंगे पर आराधना कैसी होनी चाहिए इस ओर ध्यान नहीं देंगे। इसीलिए कह रहा हूँ हे भव्यत्माओं, प्रभु ने जो संदेश दिया है—संयोग से विशेष रूप से और प्रकृष्ट से मुक्त होना है और दूसरे ही क्षण आपके भीतर पर्युषण घटित हो जायगा। पर्युषण का अर्थ है—परिस्मान अर्थात् ‘परिस्मन्तात्’ चारों तरफ से आत्मा के समीप बसना। आप कहेंगे यह कैसी बात हुई, अलग-अलग तरफ से भी जाना होता है क्या? अवधिज्ञान का क्षयोपशम यदि पाश्व भाग का है तो वह एक पाश्व को जानेगा, शेष आगे, पीछे व दूसरे पाश्व में अंधकार रहेगा। इसी प्रकार जिस ओर का क्षयोपशम होगा उसके अतिरिक्त शेष ओर अंधकार की स्थिति रहेगी। पर यदि हम चारों तरफ से आत्मा के समीप आ जायें तो वह स्थिति होगी पर्यूषण की। तब आत्मा में अधेरा ठहर नहीं पायेगा। महासतीजी ने जो कहा कि जब तक पर्युषण है तक तक जैन धर्म भी रहेगा पर क्या जैन लोगों ने ही जैन धर्म का ठेका ले रखा है। यदि हम आत्मा के निकट नहीं तो हम जैनी नहीं हो सकते। हम नामधारी जैन भले ही हो जायें पर जैनत्व-भाव हम में नहीं जग पायेगा। प्रभु ने कहा है—कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि होता है। यदि ब्राह्मण के भी कर्म चाण्डाल के हैं, वह क्रोध से आवेष्टित है तो वह कर्म से ब्राह्मण नहीं, चाण्डाल है। मौन से मुनि और समता से ही श्रमण होता है। यदि वह बकवाद में पड़ गया, वचन गुप्ति नहीं रही तो वह मुनि नहीं हो सकता। यदि वह समता से विषमता में चला गया तो वह श्रमण नहीं रह पायेगा। नयों की परिभाषा गहन है। यदि भावों से जैनत्व नहीं, तो हम केवल लेबल लगा लें, जैन नहीं बन पायेंगे। यह वैसी ही बात होगी जैसे असली धी के लेबल वाले डिब्बे में वनस्पति

भरा हुआ हो। आज का यह प्रचलन है। सोचिये, यह कैसी दशा है। लेबल लगा लिया पर संस्कारों में जैनत्व के भाव तभी आयेंगे जब भावधारा से संयोग को हटा दिया जाय। उस स्थिति में ही हम जैनत्व के सच्चे अधिकारी बन पायेंगे, उसी स्थिति में और सच्चे अर्थों में पर्युषण हमारे भीतर घटित होगा। ऐसा स्वरूप जानने वाला ही जैनी है, सिर्फ जैन कुल में जन्म लेने मात्र से जैन कोई नहीं होगा। हरिकेशी चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुआ, अर्जुनमाली माली कुल में, पर वे भी तीर्थकरों के धर्मसंघ में दीक्षित हुए, ब्राह्मण आदि उच्च कुल से दीक्षित साधुओं के साथ उन्हें बिठाया। क्यों? क्योंकि उनके भीतर जैनत्व आ चुका था। इसलिए वे धर्मसंघ में शामिल किये गये जबकि अनेक राजे-महाराजे तक धर्मसंघ में शामिल नहीं किये गये थे।

मुख्य बात है भावधारा की। भावधारा में यदि संयोगों की धारा प्रवाहित है तो वह ‘समयाए समणो होई’ नहीं रह पायेगा। भावधारा में उफान आया तो समता का ढक्कन उछल जायेगा। आजकल तो नहीं मालूम पर मारवाड़ में पुराने जमाने में मोठ और बाजरी का खीचड़ा बनाया जाता था। जब बर्तन का ढक्कन खोलने की स्थिति आती तब वह इतना उछलता कि यदि चमड़ी पर छीटे पड़ जाते तो चमड़ी ही जल जाती थी। भीतर शक्ति का उभार होने से ढक्कन उछलता है, उसी प्रकार भावधारा में विरूप विचार हों तो मन पर प्रहार होता है। मन जब प्रवाहित होता है अथवा बीमार होता है तब उसके साथ काया भी घिसटती है। काया तो लाश या छाया की भाँति मन के पीछे घसीटी जाती है इसीलिए प्रभु ने संयोग से अलग होने की बात कही है। प्रारंभ में ही नियंत्रण आवश्यक है क्योंकि यदि तीसरी अवस्था तक बीमारी पहुँच गई तो फिर इलाज की बात नहीं रह पायेगी। भावधारों को स्वस्थ जाग्रत करने पर्युषण पर्व आता है।

जिन्होंने आत्मा विकसाई है, उन्हीं के लिये यह पर्व पर्युषण आया है और इसके आने से दुनिया में आनंद छाया है। परन्तु सच्चा आनंद कहाँ है? आनंद आता है जब बुखार दूर कर लिया जाता है। बुखार अर्थात् संयोगों के योग का बुखार आया था उसे ही दूर किया गया

है। पहले ही दवा कर ली यह ठीक रहा अन्यथा पर्युषण निकल जाने के बाद फिर दवा क्या काम आती? यह आनंद का अवसर है-ऐसा मानेंगे तो क्या आनंद भाव से अलग हटना अच्छा लगेगा? व्यक्ति को यदि व्यापार में लाभ हो रहा है तो क्या वह उसे छोड़ेगा? यदि यह आपकी अनुभूति है, लाभ है, तो घर-परिवार छूट जायेंगे? पहले सामायिक करते थे वह सामायिक भले छूट जाये। पर परिवार घर छूटना कठिन है। कहाँ आया आपको आनंद? वह सम्पत्ति क्या जिसके आने से सामायिक छूट जाये। आनंद का स्वरूप आपने क्या समझा है? सामायिक करनी भी पड़ी तो मानो बेगार काट ली, मन सामायिक में रमा नहीं तो रस भी कहाँ आया। आयेगा भी कैसे, भावधारा में तो संयोग बसा है। संयोग पुद्गलों का भी हो सकता है और यदि उसी की वजह से रस आया है तो वह सूख जायेगा।

एक व्यक्ति एक महात्मा के पास गया और बोला-‘महात्मन्! मुझे मुक्ति का उपदेश दीजिये।’ विचारिये कि मुक्ति क्या उपदेश सुनने मात्र से मिल जाती है? उसके लिये तो पूरी निर्धारित कठोर प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। वैद्यराजजी परपटी का इलाज करना चाह रहे हैं या आपको संग्रहणी दूर करनी है तो वैद्य के इशारे पर चलना होगा। यदि रोग आँतों से दूर नहीं हुआ तो ऊपर से भले गोलियाँ खाते रहें, भीतर कीटाणु पनपते रहेंगे। रोग एक बार दब गया, दस-पन्द्रह दिन दवाई लेकर आप रुक गये तो फिर वह पुनः उभर सकता है। उससे मुक्ति नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार यदि आपको भी मुक्ति चाहिए तो एक लम्बी कठोर प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी। तभी पर्युषण का आपको सच्चा आनंद आयेगा। आप कहंगे-अभी बालक छोटा है, क्या करें। बालक तो छोटा ही रहेगा आप भले सौ वर्ष पूरे कर लें, तब भी क्या आप संयोग को नहीं छोड़ेंगे? यदि नहीं छोड़ा और सम्बन्ध जुड़ा रहा तो विस्तार बढ़ता रहेगा। मुक्ति नहीं हो पायेगी। आप कह सकते हैं-हमने गुरु चरण ग्रहण कर लिये हैं। हाँ, कहा भी है-

जीत पकड़ ले चरण गुरु का, बिन तार्यां ही तिर जासी।

पर पैर पकड़ने की तैयारी तो करनी पड़ेगी, कुछ तो करना ही

होगा। पैसा प्राप्त करना है तो पुरुषार्थ करना होगा। मुक्ति प्राप्त करनी है तो उनके चरण पकड़ लीजिये। पर बाहर के पैर नहीं, उनकी कृपा के पैर। गुरुदेव की अन्तरात्मा जो-कुछ उचित समझती है, वही वे करते हैं। गुरुकृपा, गुरु की अन्तरात्मा जो-कुछ उचित समझती है, वही वे करते हैं। गुरुकृपा, गुरु का वरदहस्त हर स्थिति में मंगल करता है, रक्षा करता है। भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग दिए और धरणेन्द्र ने सर्प के रूप में फन फैलाकर उनकी रक्षा की थी। पूज्य गुरुदेव के वरदहस्त के प्रभाव से आने वाले परीषहों में भी मार्ग मिल जाता है। यह है गुरु की कृपा, गुरु की महिमा। गुरु के प्रति समर्पित होना ही चाहिये क्योंकि कहा गया है—‘गुरुणामाज्ञामविचारणीया।’ पर इसके लिये संयोग छूटना आवश्यक है क्योंकि संयोग जुड़ते ही हमारी नींद हराम हो जाती है। लेकिन यदि पर्युषण का संयोग जोड़ लें तो मोह-माया की नींद हराम हो जाये। पर यह बहुत कठिन है। कहा भी है—

एगो मे सासओ अप्पा, णाण दंसण संजुतो।

यहाँ भी संयोग है, पर ज्ञान दर्शन से है जहाँ मोह-माया की नींद उड़ जायेगी, गति में परिवर्तन हो जायेगा। कहा है—‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ अंधकार को छोड़ प्रकाश की ओर चलो। पर वह होगा कब? जब पर्युषण का अर्थ अपने भीतर घटित हो जाये, चारों ओर से ज्ञान, दर्शन, चरित्र हमारी आत्मा में पहुँच जाय। पर्युषण यदि भावधारा में गहरा जाये तो फिर ‘एगो मे सासओ अप्पा’ फलित हो जायेगा। अन्य बातें छाया लगेंगी, जैसे मकान की छाया होती है, जब तक मकान रहता है। शरीर है तब तक छाया है, आत्मा तो शाश्वत है। सिद्ध स्वरूप में छाया नहीं सिर्फ आत्म-अवगाहना रह जायेगी। बात तो मुक्ति की चल रही है, मुक्ति चाहिए तो आप दूसरों की तरफ मत देखिए। पहले अपने भीतर देखिए। स्वयं को जगाना है—

उठ जाग रे चेतन, निंदिया उड़ा ले मोह राग की।

जगाने के लिए तो संत आये हैं पर पहले मुँह तो खोलो, तभी निवाला अन्दर प्रविष्ट होगा। जागने के लिए हृदय के पट खोलो अन्यथा महाराज कितना भी जगायें, आप सोते ही रह जायेंगे। चिनगारी हो तो फूंक लगाकर आग को बढ़ाया जा सकता है पर चिनगारी हो तभी तो

काम होगा। अपने भीतर के कषायों के संयोग को जला दो, फिर आप कभी नहीं भटकोगे। गुरु राह दिखा रहे हैं। गुरु कौन? जो अंधकार को रोकने वाला है। गुरु कोई मामूली चीज नहीं है, वह व्यक्ति नहीं, ऐसी शक्ति है जो अंधकार को दूर करती है।

गुरु के पास पहुँचा व्यक्ति निवेदन कर रहा है—मुझे मुक्ति का उपदेश दो। महात्मा ने पूछा—अच्छा बताओ तुम कहाँ से आ रहे हो? उसने गाँव का नाम बताया। गुरु ने पूछा—क्यों गये थे? उत्तर मिला—पोते का संबंध करने। प्रश्न हुआ—मेरे पास क्यों आये? उत्तर मिला—आपका नाम बहुत सुना है, सत्संग-उपदेश कराते हैं, मैं भी सत्संग कर लूँ ऐसा विचार बना अतः चला आया। महात्मा ने कहा—उठो, मेरे साथ चलो। उसे विचार आया—मैं तो आया हूँ उपदेश सुनने और ये विहार करा रहे हैं। पर आया हूँ तो चलूँ तो सही। देखूँ, क्या करते हैं। सो महात्मा के पीछे-पीछे चलने लगा। महात्मा नदी के किनारे ठिठक गए, आसन पर बैठ गये, वह भी बैठ गया। नदी के परले पार मेला लगा हुआ था। यात्री आ—जा रहे थे। नदी में एक नाव भी थी। व्यक्ति आते, पर मल्लाह कहता—मैं केवल मनुष्यों को ले जा सकता हूँ, सामान को नहीं लो जाऊँगा। कई व्यक्ति विवशता में सामान धर्मशाला के सुपुर्द कर बिना सामान जाने को तैयार हो गये। एक किसान ने कहा, भाई मैं तुमसे अलग जगह नहीं मागूँगा, पोटली का बोझ भी नाव पर नहीं डालूँगा, अपनी पोटली सिर पर या गोद पर रख लूँगा, अतः इसे साथ तो चलने दो। उसने काफी हो-हुज्जत की, आक्रोश भी दिखाया पर मल्लाह ढीला नहीं पड़ा—सामान लेकर नहीं जाऊँगा, नाव डूब जायेगी। बिना सामान वाले बैठ गए और नाव रवाना हो गई। अब महात्मा ने उस व्यक्ति से कहा—‘चलो’। उस व्यक्ति ने कहा—‘मैं मुक्ति का मार्ग पूछने आया हूँ।’ महात्मा ने कहा—‘मैंने तुम्हें वही तो बताया है, और क्या चाहिए? माथे पर यदि भार ले लिया है, संयोग जोड़ लिये हैं, गाँठें बाँध रखी हैं, तो नाव में बैठकर मुक्ति में नहीं जा सकेंगे। नाव इस वजन को सहन नहीं कर सकेगी। गाँठें छोड़ने का संदेश देने के लिए ही पर्युषण पर्व आये हैं। सात दिन आराधना करने पर ही अंत में उसकी निष्पत्ति होगी। मुक्ति के लिए भार को छोड़ना होगा। बोलो, तैयार हो क्या?’ उसने कहा,

‘घरवाली से पूछना पड़ेगा’। महात्मा ने कहा—‘तब तक यदि नौका चली गई तो?’ आप सभी सोचिये कि क्या करना है? समझ लीजिये जैन समाज और जैन धर्म भावसागर में पड़ी नैया है, पूज्य गुरुदेव इसके खिवैया हैं। दूसरे साधन से यात्रा में खतरा है, दुर्घटना हो सकती है। पर इस नौका के खेवनहार चुस्त हैं अतः इस बेड़े पर खतरा नहीं है। जो पार होना नहीं चाहे और बीच में ही कूद पड़े उसकी अपनी मर्जी। बेड़े पर बैठे तो माझी पार लगायेगा परन्तु बैठना है तो संयोगों को छोड़ना पड़ेगा। ये संयोग बोझ हैं जिनके लिये नाव में स्थान नहीं। ये नाव को ढुबो सकते हैं। चतुर खेवैया इन्हें नाव पर रखने नहीं देगा। शेष आपकी इच्छा है। बेड़े पर पार नहीं होना है या बीच में ही छलाँग लगा दें और तैरना नहीं आता हो, तो क्या दशा होगी यह आपकी अनुभूति का विषय है। नौका मजबूत है और भवसागर से पार करने वाली है। संयोगों से यदि मुक्त हो गये तो यह बेड़ा आपको मुक्ति महल के द्वार तक पहुँचाने वाला है।

पर्व का अर्थ गाँठ भी है और महोत्सव भी। गाँठें तोड़कर ज्योति प्रकट की तो मुक्ति निकट होगी। आप कह रहे हैं मोक्ष दूर है पर मैं पूछता हूँ कितनी दूर है? अरे आपके निकट ही मोक्ष है। आप पहले यहीं मुक्त होंगे उसके बाद तो ‘तत्थ गंतूण्ण सिञ्जर्द’ अर्थात् वहाँ सिद्ध रूप में अवस्थान होगा। पर्युषण पर्व यह सब समझ लेने का अवसर है। यह पर्व जगानो आया है, उठो जागो, इसका संदेश सुनो। इसका पहला संदेश है साधु बनो और संयोगों का बोझ त्यागो, जहाज में बैठो, अपने-आप को तूफानों से बचा लो। यदि अभी नहीं जागे तो फिर अवसर कब आयेगा? भगवान् ने कहा है—अहासुहं। अरे महाव्रत नहीं तो 12 व्रत ही स्वीकार करो। 12 व्रतों में भी कहा है कि समुद्र का पाप रूपी पानी, घड़े-भर में सिमट जाता है। आत्मा को संयोजित करना है तो जीवन रूपान्तरित करना होगा। यह रूपान्तरण करने में आप सक्षम हैं और समय भी है।

तांबा सोना सुधड़ नर, टूट जुड़े सौ बार।
मूरख हाँड़ी कुम्हार की, जुड़े न दूजी बार॥

अर्थात् स्वर्ण, तांबा और सज्जन पुरुष बार-बार टूट कर भी जुड़ जाते हैं पर मिट्टी का घड़ा एक बार टूटने के बाद दुबारा जुड़ने वाला नहीं है। विचार कीजिये कि आप आखिर कहाँ तक भार उठायेंगे। यदि उन्हीं गाँठों को लेकर चलना है तो आपकी मर्जी। लेकिन इससे सुख नहीं मिलेगा। यदि आपकी समझ में यह बात आ जाये कि संसार में वस्तुतः सुख नहीं है तो संयोगों को त्याग देना। यह पर्युषण पर्व इस हेतु अपूर्व अवसर प्रदान करता है—यह आत्म आराधना का पर्व है। आगम कह रहा है—‘उवसम्मइ तस्स होइ आराहणा’ अर्थात् जो उपशम करेगा उसकी आराधना होगी। गाँठें छोड़े, नाव में बैठने के लिए तत्पर बनो, फिर तो आत्मा में स्वतः ही आनंदधारा प्रवाहित होने लगेगी। कवि कह रहा है—

शांतं सुधारसं जलं निधि, भवसागरं मा सेतु, ललना.....

शांत रूपी अमृत की रस-धारा जो अभी सिकुड़ी हुई है यदि वह समुद्र के रूप में विस्तृत हो जायेगी तो फिर वह कभी खाली नहीं होगी। तब प्रत्येक प्राणी उस रस से आप्लावित हो सकेगा। उसे प्रवाहित करने के लिए जब पुरुषार्थ जग जायेगा तब फिर श्री सुपाश्वर्नाथ भगवान् की स्थिति को उपलब्ध करने में कोई कठिनाई नहीं आयेगी।

भाद्रपद कृष्णा 13

10-9-96

भाव-संयोगों के त्याग का मार्ग : शोधन

हम सुपार्श्वनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना का उद्देश्य यह होता है कि हम भगवान् सुपार्श्वनाथ, जिनेश्वर तीर्थकर के प्रति स्वयं को नमालें ताकि जिनवाणी के उद्गम स्रोत से निकली पावन धारा हमारे भीतर भी व्यवस्थित रूप से प्रवाहित हो सके, उस वीतरागवाणी से विपरीत परिणति नहीं बने और हमारी श्रद्धा, प्ररूपणा और क्रिया उस वाणी के अनुरूप बने। प्रभु महावीर ने अपनी अंतिम देशना में मोक्ष-गमन से कुछ समय पूर्व, किसी के बिना पूछे ही विनय का कथन किया-

संयोगा विष्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्मामि, आणुपुव्विं सुणेह मे॥

इस अधिकार गाथा द्वारा निर्णय किया, निश्चय किया कि विनय के स्वरूप का कथन करूँगा। भगवान् के इस कथन के स्वरूप और महिमा पर चिन्तन आवश्यक है।

‘संयोगा विष्पमुक्कस्स’ के आदेश को जब सुनते हैं या जब उस पर चिन्तन करते हैं तो विचार बनता है कि क्यों नहीं संयोग का त्याग कर दिया जाय। शब्दों पर ध्यान दें, यद्यपि शब्द मात्र तो कलेवर हैं। शब्द तो किसी आशय को व्यक्त करने का माध्यम बनते हैं। शब्दों में भाव होते हैं। एक शब्द उद्भेदित कर सकता है, एक से महाभारत हो सकता है तो एक से जीवन में रामायण भी घटित हो सकती है। एक

शब्द यदि जीवन में शांत सुधारस का झरना प्रवाहित कर सकता है तो एक शब्द बैर और क्षोभ की स्थितियाँ भी निर्मित कर सकता है। महाभाष्यकार पंतजलि ने कहा है—एक सुप्रयुक्तः और सम्प्रज्ञातः स्वर्ग तथा लोक में कामधेनु है—‘एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्प्रज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।’ इसीलिए कहा गया है—

कागा का को लेते हैं, कोयल का को देत॥
रहिमन मीठे वचन सों जग अपनो करि लेत॥

शब्द-व्यवहार से ही हम किसी को प्रभावित कर सकते हैं और उसी से नफरत भी पैदा कर सकते हैं। शब्दों में भाव छिपे होते हैं। यदि हम शब्द के रूप में ही अटक गए तो भाव की गहराई तक नहीं पहुँच पायेंगे। भाव तक पहुँचाने में शब्द उसी प्रकार माध्यम बनते हैं जिस प्रकार स्थानक तक पहुँचने में आप के वाहन अथवा पैर माध्यम बनते हैं। वाहन भी स्थानक के बाहर तक ही माध्यम रहेगा, अन्दर प्रवेश के लिए तो अन्ततोगत्वा पैरों को ही माध्यम बनाना होगा। इसी प्रकार जब हम विचार के लिए उद्यत होते हैं तब शब्दों के आधार से ही हम बुद्धि या भावनाओं के भीतर प्रवेश करने का उपक्रम करते हैं। ‘संयोग विष्पमुक्कस्स’ पर चिन्तन करें तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि ‘संयोग का त्याग’ क्यों नहीं कह दिया प्रभु ने। यदि ‘त्याग’ शब्द से काम चल जाता तो गणधर विष्पमुक्कस्स का प्रयोग नहीं करते। वैसे मुक्त होना भी त्याग को ध्वनित करता है पर दोनों शब्दों के भाव में अंतर है। इससे एक निष्कर्ष निकलता है कि संयोग का एकान्त रूप से त्याग नहीं करना है।

संयोग दो प्रकार बता दिए गए हैं—(1) बात संयोग अथवा द्रव्य संयोग-माता-पिता, पुत्र, बंधु आदि (2) आभ्यंतर संयोग अथवा भाव संयोग-उक्त संबंधी जनों के प्रति प्रवाहित हमारी भावधारा जिसके अन्तर्गत विषय-वासना, कषाय, काम, मोह आदि वृत्तियाँ आती हैं। भाव संयोग एक प्रकार से आध्यात्मिक गुण हैं आध्यात्मिक याने आत्मा के भीतर के। भौतिक रूप में प्रकट होते हुए भी ये आत्मा में उसी प्रकार अवस्थित होते हैं जैसे लोह पिण्ड में अग्नि समाविष्ट होती है। ये आत्मा के भाव हैं, पुद्गलों के नहीं। यदि पुद्गलों के भाव होते तो जो कार्मण

वर्गणाएं लोक में व्याप्त हैं आत्मा में संलग्न नहीं हुई, उनमें भी क्रोध, मान, माया आदि के रूप दृष्टिगत होते। पर उनमें ये नहीं होते। ये तो आत्मा से संयुक्त होने पर, भावधारा से रस पल्लवित होते हैं। आगमों के अनुसार जब कर्मों का विपाक होता है तभी क्रोध, अहंकार आदि की भावना आ जाती है। अतः जो आत्मा में है उसका त्याग कैसे करें? माता-पिता, परिवार आदि तो इनसे भिन्न हैं अर्थात् आत्मा में घुले-मिले नहीं हैं। इनके प्रति जो लगाव है वह आत्मा में घुल-मिल गया है। अतः यदि माता-पिता आदि को त्याग दिया तो भाव संयोग का त्याग नहीं होगा। इसीलिए सूत्र दिए गए हैं— क्रोध-विवेक, मान-विवेक, माया-विवेक, लोभ-विवेक। ये साधु के गुण हैं। इनका विवेक किया जाय। विवेक करने का सुपरिणाम होगा। वह अवस्था आपके जागरण की अवस्था बन जायेगी। यदि मालिक जाग्रत है तो चोर चोरी नहीं कर सकेगा। मालिक यदि सुप्त है तो वह तिजोरी से धन ले जा सकता है। ये भीतर के संयोग हैं जो आत्मा में घुसे हुए हैं। आत्मा ने ही इन्हें लिफ्ट दी, वे प्रविष्ट हो गए और आत्मा को कमज़ोर बना दिया। आत्मा ने ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है। लेकिन फिर भी उद्धार का मार्ग है। पर्युषण पर्व का विधान है। अंधेरे में भटकने वाले को अंधेरे से उबारने के लिए ही ये पर्वराज आते हैं—

म्हारे गाँव में बहुत दिनों से आश लगी थी, आयेंगे पर्वराज
त्याग-तपस्या, ज्ञान-ध्याना से होगा आत्म काज जी॥१॥
क्रोधादिक को दूर निवारें, समता को उर धार,
प्रेम शान्ति को सरिता में सब ढूबकी लेवें मारजी॥२॥
नहीं किसी से वैर, भावना, नहीं किसी से द्वेष।
वीतरागता हे श्रेयकारी, नहीं होता पन क्लेशजी॥३॥

संयोग विष्पमुक्कस्स का संदर्भ है। द्रव्य संयोग तो छोड़े जा सकते हैं पर आत्मा से जुड़े भाव-संयोगों का त्याग कैसे किया जाय? इसके लिए दो अवस्थाएँ हैं—(1) नियंत्रण (2) शोधन। कई बार व्यक्ति विचार करता है, संकल्प लेता है, यह करूँगा, क्रोध नहीं करूँगा, शराब-बीड़ी का सेवन नहीं करूँगा पर ज्योंही उसके सामने प्रसंग आता

है, शराबी या बीड़ी पीने वाला दीखता है, उसका मन मचल उठता है। मन में द्वंद्व होता है—मैंने संकल्प ही लिया है, प्रत्याख्यान तो नहीं। एक विचार उठता है संकल्प नहीं तोड़ूं पर धीरे—धीरे पैर कच्चे पड़ते हैं, आगे बढ़ जाता है। कोई पूछे—क्यों जा रहे हो उधर? तो उत्तर होगा—अरे भाई, जाने से क्या, पी थोड़ी रहा हूँ। शराब की दूकान पर बैठ गया, प्याली आ गई, भाई सोचता है प्याली हाथ में ही तो ले रहा हूँ पी थोड़े ही रहा हूँ। परन्तु शीघ्र ही प्याली मुख की ओर बढ़ जाती है और वह गट भी कर जाता है। इस प्रकार संकल्प छिन्न-भिन्न हो जाते हैं एवं व्यक्ति पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। संकल्प मजबूत नहीं रह पाता है अतः उसे मजबूत करने के लिए ही प्रत्याख्यान सूत्र की बात की जाती है। उसके द्वारा स्थूल जगत् में हम निर्यन्त्रित हो सकते हैं, लेकिन प्रत्याख्यान से शोधन या रूपान्तरण की प्रक्रिया नहीं बन पायेगी। यदि रूपान्तरण हो जाये तो फिर शिकायत नहीं रहेगी कि सामायिक में मन नहीं लगता। प्रत्याख्यान स्थूल जगत् से क्रिया-कलाप निर्यन्त्रित करके भावधारा पर प्रभाव तो डालते हैं, पर यदि भावधारा में संयोग का संबंध ज्यादा है तो फिर प्रत्याख्यान ढीले पड़ जाते हैं। प्रत्याख्यान नियंत्रण कर सकते हैं। आपने सावद्य योग का प्रत्याख्यान किया पर ऐसे क्षण आपके सामने आ गए जब आप सावद्य प्रवृत्ति में स्थूल रूप से जो नियोजित हुए पर मन और भावधारा निर्यन्त्रित नहीं हो पाई क्योंकि मन और भावधारा का नैकट्य बना रहा। मन को मात्र प्रत्याख्यान से रूपान्तरित नहीं किया जा सकता और मन की शिकायत बनी रहती है। उसके लिए मार्ग है शोधन का। प्रश्न होगा शोधन कैसे करें? हमने नियंत्रण पर बल दिया है, उपवास, बेला आदि तप करते हैं। मासखमण भी है पर यदि पारणे का दिन आ गया तो पोरसी भी भारी पड़ जाती है। घड़ी पर कई बार नजर चली जाती है। मन का काँटा तेजी से घूमने लगता है। इंतजार की घड़ियाँ लम्बी लगती हैं क्योंकि पारणे की भावना मन में आयेगी तो भावधारा पर नियंत्रण कठिन हो जायेगा। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि हमने नियंत्रण किया है पर शोधन नहीं। यदि शोधन की ओर रुझान हो जाय तो? पर इसमें भी कठिनाई आ सकती है। आपने तो नौकर रख लिया

है, वह पानी भर देगा पर यदि पहले घड़े में रही बदबू को नहीं निकाला गया तो शोधन सफल कैसे होगा?

एक मस्जिद के पास एक हौज बना हुआ था। नमाज पढ़ने से पूर्व हाथ पैर धोये जाते और इस प्रकार सफाई करने के बाद नमाज की क्रियाएँ की जातीं। एक बार उस हौज में कुत्ता गिर कर मर गया। हौज ज्यादा बड़ा नहीं था। अब उसके पानी में बदबू आने लगी। ध्यान रखिये, जब तक शरीर में चेतना है तभी तक आव है, आदर है। पक्षी उड़ गया तो फिर दुर्गन्ध आने लगेगी। निर्जीव शरीर ज्यादा देर नहीं रखा जा सकेगा। विचार कीजिये—आत्मा कैसे दुर्गंधयुक्त महल में रहती है। आत्मा का प्रभाव है कि दुर्गंध प्रकट नहीं हो पाती। आपरेशन के वक्त जब भीतर की स्थिति सामने होतीहै और व्यक्ति उसे देखता है तो चक्कर आने लगते हैं। डाक्टर भी पहले पढ़ाई करता है, धीरे-धीरे मन को कठोर बनाता है और एक दिन उस स्थिति में आ जाता है कि मनुष्य की चीर-फाड़ भी कर दे तो मन हिले नहीं। यदि कोई पहली बार आपरेशन करते देख ले तो दिल दहल जायेगा। कैसी रचना है शरीर की? यदि यह ज्ञान हो जाये तो फिर व्यक्ति इसमें रचेगा नहीं। बहिनें चौबीसी में कह दिया करती हैं—

मति राचो रे संसार, सपने री माया, मति राचो रे।
हाड़का रा पींजड़े ने, चामड़ा सुं मंडियो।
कुंभ कलश जैसी काची काया, मति राचो रे।

कुंभकलश अर्थात् मिट्टी का घड़ा, कितना कच्चा, हाथ से गिरा तो चकनाचूर ठिकरिया—ठिकरिया हो जायेगा। लोगों ने विचार किया—क्या करें? चलें काजी के पास, वे ही कुछ निर्णय करेंगे। काजी ने कहा—उसमें स्वच्छ जल लाकर भर दो। लोगों ने बालियों से ला-लाकर साफ पानी उसमें भर दिया। एक-दो दिन बीते, फिर दुर्गंध आने लगी। पुनः काजी की शरण में गये। काजी ने पूछा—‘आपने पहले का पानी खाली किया था या नहीं? उत्तर मिला—नहीं, आपने तो स्वच्छ पानी भरने का आदेश दिया था। कहा गया—अरे भाई, पुराना पानी नहीं निकाला, तो स्वच्छ पानी भी उसमें मिलकर बदबू ही देगा।’ पुनः आये और पानी

बाहर निकाल कर, नया पानी भर दिया। पर यह क्या, दो दिन बीते नहीं और फिर दुर्गम्य आने लगी। फिर पहुँच गये अपनी समस्या लेकर। काजी ने सुना तो पूछा-हौज में से उस मृत कलेवर को निकाला या नहीं? उत्तर मिला-नहीं। यही बात है शोधन की, पूरा शोधन नहीं किया। सोचा, समझ जाओगे। जब तक सारी गंदगी बाहर नहीं निकाली जाती तब तक ऊपर से डाला गया स्वच्छ पानी भी गंदा ही होगा। भावधारा को भी संवर द्वारा रोका नहीं गया तो आश्रव रूप आने वाला पानी गंदा होता चला जायेगा। संवर द्वारा रोक कर और निर्जरा से गंदा पानी निष्कासित करने पर शोधन होगा, क्योंकि कर्मों में भी संक्रमण क्रिया होती है। पहले तो कर्म बंधे हैं और नये बंधन वाले आते हैं तब भावधारा में उतार-चढ़ाव आता है और शुभ कर्म भी अशुभ में परिवर्तित हो जाते हैं। यदि आप भी जाग्रत हों, विवेकवान हों तभी भावधारा का अनुभव कर पाएंगे। मालिक सावधान नहीं है और आपने मुनीम के भरोसे दुकान छोड़ दी। घंटे, दो घंटे की बात अलग है। फैक्ट्री की बात नहीं कह रहा हूँ। आपकी दुकान है। पाँच-छः मुनीमों के भरोसे छोड़ दी, फिर पहुँचे तो दुकान का भी पता लगेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता। यही हालत जीवन की है, जागरण नहीं तो भावधारा में कषायों से मैत्री हो गई। इस स्थिति में भीतर ही भीतर से तूफान आत्मा को बेभान कर देंगे इसीलिए प्रभु कह रहे हैं-विवेक को जाग्रत करो, ज्ञ परिज्ञा को जाग्रत करो, फिर भावधारा को धोखा नहीं रहेगा। क्रोध आयेगा, छोड़ नहीं पायेंगे क्योंकि पूर्व में बीज पड़े हुए हैं, पर यदि अंकुर पर मिट्टी डाल दी, खाद-पानी बंद कर दिया तो फिर वह बढ़ेगा नहीं। बीज नष्ट हो गए तो फिर पौधे नहीं पनपेंगे। भावधारा को संयोग से रहित करना है। यह प्रत्याख्यान से नहीं, शोधन प्रक्रिया से होगा। शोधन प्रक्रिया पूरी नहीं तो भावधारा निर्मल कैसे होगी? भौतिक जीवन में भी हम शोधन करते हैं।

घासलेट का पीपा है तो हम क्षार, गर्म पानी आदि से धोकर उस पीपे को भी भरने के योग्य बना लेते हैं। आयुर्वेद में भी यह पद्धति है। आयुर्वेद आध्यात्मिकता के निकट है। वैद्य इलाज करने के लिए पहले

जौहरड़, जुलाब आदि के प्रयोग से शरीर के मल को साफ करते हैं। यदि पेट गड़बड़ है तो जुकाम, सिरदर्द, शरीर में अकड़पन आदि रोग होंगे। पेट शुद्ध है तो बीमारियां नहीं पनपेंगी। पेट बेचारा दुतरफी मार खाता है। लोभ के वश हम ठूंसते चले जाते हैं, पेट बेचारा समझावी क्या करे? मुख और पेट अलग-अलग हैं। माल डालते जाओ, तिजोरी बिचारी क्या करेगी। अतिरेक होने पर वमन हो जायेगा या वमन नहीं हुआ तो आँतें कब्ज से अँट जायेंगी और बीमारी पैदा हो जायेगी। आयुर्वेद का नुस्खा यह बताता है पहले शोधन की प्रक्रिया, फिर आगे की चिकित्सा, तभी स्वास्थ्य सुलभ होगा। इन पर्व के दिनों में हम शोधन करें और आत्मा की मलिनता दूर हो ताकि पर्व आराधित हो सकें।

नियंत्रण कहाँ तक हो सकता है, यह भी चिनतन का विषय है। शास्त्रों में पाँच प्रकार के व्यवहार बताये गये हैं। उनमें आगम-व्यवहारी के लिये हमारे नियम आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए स्थूलिभद्र ने कोशा की रंगशाला में चातुर्मास किया पर साधु के लिए वेश्या के मोहल्ले में भी जाने का निषेध है। कोई पूछ सकता है कि आगम-व्यवहारी के लिए नियंत्रण क्यों नहीं है? उत्तर है-इसलिये क्योंकि उन्होंने भीतर का शोधन कर लिया होता है अतः वे स्व-निर्यन्त्रित होते हैं। लेकिन जिन्होंने शोधन नहीं किया उनके लिए नियंत्रण आवश्यक है। शोधन कर लिया, उन्हें प्रभु ने 'अहासुहं' कह दिया और जिन्होंने नहीं किया उनके संबंध में प्रभु मौन रह गये। उनके लिए है-'आणाए मामगं धम्मं'। आगम व्यवहारी शुद्ध है, पासगस्स है, आत्मद्रष्टा है, वह पारदर्शी बन चुका है, उसके लिए उपदेश नियंत्रण नियम नहीं है। हम भी यदि शोधन की प्रक्रिया को जानकर आत्मा से जुड़ेंगे तो मलिनता दूर होगी।

इस स्थान पर यह समझ लेना भी आवश्यक है कि जब तक चित्तवृत्ति मलिन है तब तक व्यक्ति चरित्राचार को भी शुद्ध नहीं रख सकता और चरित्र ही मोक्ष का प्रधान अंग है। चरित्र की शुद्धि के लिए चित्त की अनिवार्य रूप से शुद्धि होनी चाहिए। चित्त की शुद्धि के लिए निर्युक्तिकार ने उस पर लगे हुए मैल को धो डालने का निर्देश दिया है। जिस प्रकार वस्त्र की मलिनता को दूर करने के लिए उसे धो डालना

आवश्यक होता है, अथवा पहले के चढ़े रंग पर अन्य रंग चढ़ाने के लिए पहले वाले रंग को धो डालना जरूरी होता है उसी प्रकार आत्मा, चरित्र अथवा भावना पर चढ़ी हुई मलिनता को दूर करने के लिए अथवा पूर्व के पड़े हुए प्रभावों को दूर करने के लिए अथवा संयम और मोक्ष का रंग चढ़ाने के लिये, पहले के अभ्यासों को दूर करना होता है तभी नये संस्कार अच्छी तरह जम पाते हैं। स्पष्ट अक्षर लिखने के लिये पहले पट्टी को धो कर साफ करने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार चित्त रूपी पट्टी पर संयम के अक्षर लिखने के लिए उस पर पहले से लिखे सांसारिकता के आलेख को साफ कर डालने की आवश्यकता होती है साधना में शोधन की इसीलिये आवश्यकता होती है।

भाद्रपद कृष्णा 14

11-9-96

भावधारा की निर्मलता : मातृत्व की सफलता

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर का यह भव्य शासन प्रभु महावीर की उद्घोषणा के अनुसार इक्कीस हजार वर्ष तक निरन्तर गतिशील रहेगा, इसमें उतार-चढ़ाव आयेंगे क्योंकि भगवान महावीर की जन्म राशि पर भस्म ग्रह का योग था। जिस समय प्रभु महावीर का निर्वाण होने वाला था उस समय शक्रेन्द्र ने कहा भी था-'भगवान् अपनी आयु का थोड़ा-सा समय आगे बढ़ा लीजिये ताकि भस्म ग्रह का योग टल जाये।' प्रभु ने कहा-'शक्रेन्द्र, शासन के प्रति तुम्हारी हित-भावना, मंगल भावना है इसी से प्रेरित होकर तुम्हारे मुँह से ऐसा कथन प्रस्फुटित हुआ है पर आयु के दलिक को बढ़ा पाना किसी के सामर्थ्य की बात नहीं है। तीर्थकर भी उसमें असमर्थ हैं।' वैसे तीर्थकर का बल परिगणन करते हुए बताया गया है कि लोक जो चौदह राजू प्रमाण है इसकी यदि गेंद बना दी जाय और तीर्थकर भगवान् उसे धीरे से टिल्ला लगायें तो यह लोक रूपी गेंद अलोक में कहाँ जाकर गिरेगी, इसका कोई ठैर-ठिकाना नहीं। यद्यपि ऐसा न हुआ, न है, न होगा पर इतना बल होते हुए भी आयु के दलिक को बढ़ाने की उनकी क्षमता नहीं है। इसका भी कारण है-जिस समय आयु का बंध होता है उस समय गति-जाति के साथ अनुबंध भी हो जाता है। आज भी व्यापारिक सौदे या अनुबंध जिस तारीख के लिए तय होते हैं उसी तारीख को वे समाप्त हो जाते हैं। उन्हें आगे बढ़ाया जा सकता है लेकिन जो बढ़ाया जाता है वह दूसरी किस्त होती है, पहली किस्त अपने आप ही रद्द हो जाती है। आयु के साथ गति-जाति

के दलिक आत्मा के साथ उतने ही समय तक के लिए संयोजित होते हैं अतः उन्हें बढ़ाया नहीं जा सकता यद्यपि अन्य कर्मों में यह आत्मा पुरुषार्थ-विशेष से परिवर्तित कर सकती है। बाद में उदय होने वाले कर्मों को पहले समाप्त किया जा सकता है। जो कर्म बहुत बाद में उदय में आने वाले हैं उन्हें पहले भोग कर आत्मा को निर्मल किया जा सकता है। इस प्रक्रिया को उदीरण कहते हैं। यदि हम मान लें कि बंधे कर्मों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता अथवा उन्हें समय से पूर्व उदय में नहीं लाया जा सकता तो शोधन प्रक्रिया में कोई आगे नहीं बढ़ेगा। फायदा भी नहीं, जिस समय उदय में आना है, आयेगा ही फिर सफाई-धुलाई-शोधन क्यों किया जाय? क्यों तप से निर्जरा की जाय? समाधान हेतु एक महत्वपूर्ण सूत्र है-

भवकोडी संचियं कर्मं, तवसा निज्जरिज्जइ-उत्तरा, ३०/६

करोड़ों भवों के संचित कर्म, जिनका अबाधा काल पूर्ण हो गया है उनकी तप के माध्यम से निर्जरा की जा सकती है।

कहा गया है कि अज्ञानी से सम्यक् दृष्टि की, सम्यक् दृष्टि से श्रावक की, श्रावक से साधु की क्रमशः: असंख्यात् गुणी-असंख्यात् गुणी निर्जरा अधिक होती है। कर्म क्षय की प्रक्रिया बनती है उसके लिए शोधन प्रक्रिया उपयोगी है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि तब प्रत्याख्यान की इस दृष्टि से क्या स्थिति है? शोधन के अभाव में रूपान्तरण नहीं होता है। जब तक सूक्ष्म शरीर की भावधारा में कषायों की आग अथवा मलिनता का प्रभाव है तब तक उसका प्रभाव, उसकी छाया, मन पर पड़े बिना नहीं रहेगी। ज्योतिष चक्र चलता है; जब सूर्य या चन्द्र के विमान के सामने राहु-केतु के विमान आ जाते हैं तो कहा जाता है ग्रहण हो गया। राहु-केतु उन्हें निगल नहीं लेते हैं बल्कि उनके कालेपन की परछाइ पड़ती है और ग्रहण की स्थिति बन जाती है, वैसे ही जैसे दर्पण में दृष्टिगत होगा। भावधारा में मलिनता है तो मन रूपी दर्पण पर मलिनता ही प्रतिबिम्बित होगी। इसीलिए मन के बजाय भावधारा का शोधन किया जाय। पच्चीस बोल में बारहवाँ बोल है-पाँच इन्द्रियों के तेर्झेस विषय और दो सौ चालीस विकार। यदि विषय आपके सामने है तो उसे मिटाया

नहीं जा सकता। शब्द कानों में आयेंगे—आप सुनें या नहीं सुनें, आपकी मर्जी। यदि शोरगुल हो रहा है अथवा आप कान में रुई ठूंस लेते हैं तो भी शब्द उसे चीरकर प्रविष्ट हो जायेंगे पर विकार तब ही जुड़ेंगे जब उनके साथ मन की प्रतिक्रिया जुड़ेगी। ये शब्द शुभ हैं ये अशुभ हैं, इस विचारणा से राग-द्वेष के फल लग जायेंगे। यदि विषय पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी तो विकार नहीं पनपेगा? भावधारा विकृत नहीं होगी तो विषय विषय ही रह जायेगा। अंतकृतदशांग सूत्र के अनुसार देवकी महारानी की भावधारा में विकार आ गया क्या अतिमुक्त मुनि की बात मिथ्या थी? जब उसने देखा भावधारा में विकार आ गया तो विचार किया-प्रभु ने समाधान कर लूं। मान लीजिये कि आपके मन में भी मलिनता आ जाय परन्तु आप महाराज से पूछने में संकोच करं तो यह मलिनता जमती चली जायेगी और जब भावधारा पर ये पौधे अंकुरित हो जायेंगे तब आत्मा कितनी उत्पीड़ित होगी, यह भी क्या आप ने सोचा है? कर्म करते व्यक्ति नहीं सोचता तथा बात स्थितियों का आलोड़न-विलोड़न करते मन में बात बुलती रहने देता है, परिणामस्वरूप मलिनता भावधारा पर चिपक जाती है। यह चिपकना भी दो प्रकार से होता है—बालक खेल खेल रहा था, काली गीली मिट्टी का गोला बनाकर दीवाल पर फेंका, गोला दीवाल पर चिपक गया। एक सूखा मिट्टी का ढेला भी था, उसे भी फेंका गया, वह चिपका नहीं बल्कि फिसल गया। गोंद और पानी से एक चिपचिपा पदार्थ बनता है जो चिपकाने के लिए काम में आता है। भावधारा के साथ भी ऐसा ही होता है। आने वाले विषय में कषाय व योग से गीलापन उत्पन्न होता है। कषाय और योग से एक रस और पैदा होता है जैसे दो पदार्थों से तीसरा रस पैदा होता है। सिद्धांत की भाषा में उसे लेश्या कहा गया है। अब देखें कि देवकी महारानी के संबंध में क्या हुआ। उन्होंने विचार किया कि मुझसे मुनि ने कहा था कि ऐसी (नल कुबेर के समान) संतानों को जन्म देने वाली अन्य माता नहीं होगी, तो क्या वह बात मिथ्या थी? चिन्तन किया कि उतार-चढ़ाव, संकल्प-विकल्प क्यों रखूँ? वह तीर्थकर की वाणी का रसपान करने वाली थी, अतः संशय नहीं रखा। संशय रखना भी नहीं चाहिये।

संशय से जीवन सुरक्षित नहीं रहता। विकल्पों में राग-द्वेष-काषायिक परिणाम से अशुभ लेश्या प्रादुर्भूत होती है। देवकी ने विचार किया कि कहीं मेरी भावधारा में अशुभ लेश्या उत्पन्न न हो जाए। अतः सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु अरिष्टनेमि जो यहाँ विराज रहे हैं उनके पास पहुँचकर समाधान प्राप्त कर लूँ। पहुँच गई। देवकी यद्यपि महिला थी पर उसमें साहस था, सत्त्व था अन्यथा आज तो भाई भी संकोच करते हैं-कहीं महाराज नाराज न हो जायें यद्यपि ऐसी बात नहीं है। संत सहसा ऐसा कुछ मुँह से बोलेंगे नहीं। आचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. फरमाया करते थे-

सती शाप देती नहीं असती का शाप लगता नहीं।

देवकी पहुँच गई। पहुँचते ही प्रभु ने सारा दृश्य इस प्रकार प्रस्तुत कर दिया मानो देवकी के सामने टी.वी. सीरियल चल रहा हो। यह क्या, ये सारे पुत्र मेरे हैं? प्रभु की वाणी सुनी तो संकल्प-विकल्प नहीं रहा। भावधारा पर वे सूखे ढेले टिक नहीं पाये, झड़ गये। यदि वे भावधारा में चिपका लिए जाते तो वह श्रद्धा से विचलित भी हो सकती थी। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा-ये दूषण हैं। संशय में सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होता है और यदि यह उदय आगे बढ़ गया और मिथ्यात्व में पहुँच गया तो विनाश ही परिणाम होगा। संशय से आत्म-पतन हो जाता है। देवकी ने संशय नहीं रखा। पहुँच गई मुनियों के दर्शन के लिये। मुनि जब घर में आए थे उस समय जो भावधारा थी, जो अध्यवसाय थे वे इस क्षण परिवर्तित हो गये। एक माता, जिसके प्रसव का प्रसंग नहीं आया हो तो उसके स्तनों में दूध भी नहीं आयेगा। लेकिन जब बच्चा जन्म ले लेता है तब कैसी रासायनिक प्रक्रिया होती है, जरा इस पर गहराई से चिन्तन करें। माता सिर्फ संतान को ही नहीं बल्कि उसके साथ मातृत्व भाव को भी जन्म देती है। गाय घर में भले ही चौबीस घंटे बंधी रहे, हर क्षण उसके थनों में दूध नहीं आता पर ज्योंही बछड़ा छोड़ दिया जाता है, गाय के थनों में दूध उतर जाता है।

इस स्थिति पर आज के संदर्भ में विचार करें। आज तो माताएँ चाहती हैं, संतान जन्म ही न लें। ऐसी माताओं के लिये क्या कहें।

स्थितियाँ विकट हैं। एक तरफ तो अहिंसा के पुजारी आवाज लगाते हैं कि कल्लखाने बंद होने चाहिए लेकिन आज तो कल्लखाने हमारे घरों में ही खुलते चले जा रहे हैं। ये माताएँ, जो वात्सल्य की प्रतिमूर्ति मानी जाती हैं, कैसी निष्ठुर-हृदय बन जाती हैं? एक रिपोर्ट के अनुसार पाँच लाख बहनें प्रतिवर्ष अवैध रूप से भ्रूण-जत्या करवाती हैं। वैध की संख्या तो बहुत अधिक है। मैं ज्यादा क्या कहूँ, जितने महीने का गर्भ होता है उसके अनुसार अलग-अलग तरीकों से गर्भपात की क्रिया अपनाई जाती है। एक इंजेक्शन द्वारा कोई द्रव पदार्थ गर्भ में छोड़ा जाता है जिससे उस भ्रूण के भीतर हलन-चलन होती है। तीर्थकरों ने कहा है-वनस्पति तक के लिए यह मत कहो कि इसे तोड़ दो, काट दो। इससे उसे पीड़ा होती है। डॉ. वेकेंस्टन और जगदीशचन्द्र वसु ने प्रयोग से यह सिद्ध भी कर दिया है कि ऐसी बात करने मात्र से वनस्पतियों को पीड़ा होती है क्योंकि उनमें भी संवेदना होती है। तब सोचिये कि उस भ्रूण को क्या अनुभूत होता होगा? वह भी संज्ञी पंचेन्द्रिय मन वाला प्राणी है। उस पर प्रभाव पड़ता है। महाभारत के पृष्ठ पलटिये, जान लेंगे कि अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्रव्यूह-भेदन की विधि सीख ली थी। तब आज संतान गर्भ में माता-पिता से क्या सीखेगी? शास्त्रकार कह रहे हैं-जैसे ही गर्भ में संतान आती है माता का कर्तव्य होता है कि वह अतिशोक न करे, मिर्च-मसाले वाले पदार्थों, प्रमाद तथा आलस्य आदि का सेवन न करे। उसे जिस प्रकार की संतान बनानी है तदनुरूप अपनी दिनचर्या को ढाल ले। पर जो माताएँ संतान चाहती ही नहीं, वे क्यों ऐसा करेगी। वे तो उस मेहमान का सम्मान शस्त्र से करवाएँगी। लेकिन वे नहीं जान पाती हैं कि योनि में शस्त्र-प्रवेश से बालक भय से भीषण रूप से प्रकम्पित होता है, उस थैली में भाग-दौड़ करता है तथा बचने के लिए प्रयास करता है। बालक तो माँ की कुक्षि को रक्षा के लिए सर्वश्रेष्ठ आश्रय मानता है पर यदि माँ ही मातृत्व भुला दे, रक्षक ही रक्षक बन जाय तो बालक कहाँ सुरक्षा ढूँढ़े? वह बेचारा भीतर ही भीतर कोलाहल करता है, रक्षा के लिये भाग-दौड़ करता है परन्तु उसका कोई वश नहीं चलता। डाक्टर, जो जीवन बचाता है, वह उसके लिये जीवन का हरण करने वाला बन जाता है। अपने पक्ष में थोथी दलीलें दी जाती हैं। कानून

की भ्रामक व्याख्या कर जनता को बहकाया जाता है। कानून यह नहीं कहता कि भ्रूणहत्या करो। वह तो यह प्रावधान करता है कि यदि माता का जीवन खतरे में हो तो संतान को गिराया जा सकता है परन्तु इस प्रावधान का गलत प्रयोग किया जाता है और कागजी रिपोर्ट दे दी जाती है कि माँ का जीवन खतरे में था इसलिए गर्भपात कराया गया। पर आँकड़े बताते हैं कि प्रतिवर्ष तीस लाख के लगभग भ्रूणहत्याएँ हो रही हैं। वैज्ञानिकों ने शोध की है कि यदि दो-तीन बार गर्भपात करा लिया जाय तो फिर वह माता संतान को जन्म देने योग्य नहीं रह जाती, बाँझ हो जाती है। बाँझ घर में पूजी जाने योग्य नहीं रहती। क्या ऐसी निष्ठुर नारियाँ भी पूजनीय हो सकती हैं? माता की भावधारा का इस स्थिति से गहरा संबंध होता है। मातृत्व का फूल खिलने से पूर्व ही मातृत्व की हत्या कर दी जाती है। नारी की भावधारा पर इससे गहरा सदमा लगता है। कई बार महिला को अनिच्छा से भी सास-ससुर, पति आदि के दबाव से गर्भपात कराना पड़ता है। उसे समझाया जाता है कि इससे उसका सौन्दर्य बरकरार रहेगा, विषय-भोगों में सुविधा रहेगी और बुढ़ापा जल्दी नहीं आयेगा। लेकिन वास्तव में बुढ़ापा जल्दी आने का कारण कुछ और है। विषय-सेवन के अतिरेक से जीवनी शक्ति बरबाद हो जाती है। परिणामस्वरूप बुढ़ापा जल्दी आ जाता है। इतिहास साक्षी है कि जो संयमित जीवन व्यतीत करते थे उनकी संतानें सुदृढ़ शरीर व मनोबल वाली हुआ करती थी। अतः यदि संयमित जीवन व्यतीत किया जाय तो न तो बुढ़ापा ही जल्दी आयेगा, न ही स्वास्थ्य और सौन्दर्य नष्ट होगा। इसी का उपाय ब्रह्मचर्य सेवन बताया गया है।

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं, सूत्रकृतांग सूत्र १/६/२३

आवश्यकता है विषय-त्याग की ओर आगे बढ़ने की जबकि आज उन्मुक्त जीवनचर्या का आदर्श अपना लिये जाने के कारण मातृत्व की हानि हो रही है। गर्भ में बालक का स्वागत तो दूर, उसे कैंची दिखाइ जा रही है। जैसे बहनें साग-भाजी काटती हैं वैसे बालक के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं जो नलिका से बाहर आ जाते हैं। कभी यदि उसके टुकड़े नहीं हुए, वह मजबूत है, तो उस पूरे बालक को ही खींचकर या

प्रेशर से बाहर निकाल दिया जाता है और बोतल में रख कर दिखाया जाता है। आज वही डाक्टर नामी माना जाता है जिसने ज्यादा से ज्यादा गर्भपात कराये होते हैं। हम विचार करें कि ये स्थितियाँ नैतिक अथवा धार्मिक दृष्टियों से उचित हैं? धार्मिक पर्व मनाने की सार्थकता फिर कहाँ है? तब पर्युषण पर्व फिर कैसे आयेगा? गीले गोले चिपकने जैसी लेश्या का ही निर्माण होगा। आपने छः पुरुषों का दृष्टान्त अवश्य सुना होगा। कृष्ण लेश्या वाला जड़मूल से ही नष्ट करना चाहता है। गर्भ की संतान को नष्ट कर रहे हैं तो क्या शुक्ल लेश्या होगी? पद्म लेश्या होगी? वहाँ अशुभ लेश्या ही होगी, कृष्ण-नील। उससे जो द्रव उत्पन्न होगा उसमें मरी हुई गाय अथवा मरे हुए सर्प जैसी दुर्गन्ध आयेगी। ऐसा द्रव्य यदि हमारी भावधारा में मिले तो फिर भावधारा निर्मल कैसे रहेगी? विषय ही आते रहेंगे। हमने पीछे के गटर खोल रखे हैं। जिस प्रकार नाली में थैलियाँ आदि आने पर पानी का प्रवाह रुक जाता है और दूषित हो जाता है उसी प्रकार जब वैकारिक थैलियाँ भावधारा में मिल जाती हैं तब भावधारा रुक जाती है और दूषित भी हो जाती है। देवकी ने ऐसा नहीं सोचा कि कंस तो बच्चों को मारेगा ही। तो क्यों न मैं ही उन्हें पहले समाप्त कर दूँ ताकि प्रसव-पीड़ा तो नहीं सहनी पड़े। पर उसने वैसा नहीं किया। उसी का परिणाम था कि आज वह अपने उन लालों के दर्शन कर पा रही थी। दर्शन करते करते उसका मातृत्व भाव उमड़ पड़ा-मुनि दर्शन कर रही है। कपड़े छोटे हो गये हैं, कसने टूट गए हैं, दूध की धार, वात्सल्य की धार बहने लगी है। बालक कितना भी बड़ा क्यों न हो जाय, माता के लिये वह बालक ही रहता है। डॉ. डी.एस. कोठारी माता के प्रति अत्यंत श्रद्धावान थे। वे कभी भी माता की आज्ञा की अवहेलना नहीं करते थे। पर आज तो संतान पढ़-लिख लेने के बाद यह सोचती है कि माता क्या जानती है? पूज्य गुरुदेव की माता श्रृंगारबाई यदि गुरुदेव को जन्म नहीं देती तो उन्हें कौन जानता? आज भारत में श्रृंगारबाई का नाम गुरुदेव जैसे पुत्र के कारण फैला हुआ है। उन श्रृंगारबाई को रुपये पैसे गिनने और घड़ी देखनी भी नहीं आती थी। रेत की घड़ी से सामायिक करती थीं। जिस समय गुरुदेव को युवाचार्य पद दिया गया, माता को गाढ़े में बिठाकर लाया गया। उन्होंने वात्सल्य प्रकट करते हुए स्वर्गीय गुरुदेव आचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. से कहा था-

‘ओ अन्नदाता, म्हारे नाना पर अतरो भार क्यों डाल्यो। ओ तो नानो है।’ स्वर्गीय गुरुदेव आचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. ने उत्तर दिया था—‘बाईंजी! अबे ए नाना नहीं रखा।’ माता ने तो प्रबोध देते हुए पुत्र से भी यह कहा था—

अतरो मोटो पद मली गयो, पर अहंकार में मती आवजो।

क्या वह माता गुरुदेव से ज्यादा जान रही थी? नहीं, पर वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर वह शिक्षा दे रही थी। ऐसी शिक्षा माता दूध पिलाते-पिलाते दे देती है। देवकी खड़ी है, मुनियों पर वात्सल्य भाव उमड़ रहा है।

आज कहते हैं वात्सल्य भाव नहीं उमड़ता पर ऐसा नहीं है। यदि पुत्र सामने हो तो वात्सल्य भाव रूक नहीं सकता। हम पहले पुत्र तो बनें, वात्सल्य स्वतः प्रवाहित होगा। पुत्र सामने थे अतः देवकी का भी वात्सल्य रस फूट पड़ा। आज तो सिन्थेटिक वस्तुओं का जमाना है। जीवन में कृत्रिमता समा गई है। स्वयं को संतान के रूप में ही प्रस्तुत नहीं कर पाते। संतान उखड़ रही है। महाराष्ट्र की एक घटना है। गुरुदेव विहार कर पधारे थे, लोगों ने कहा—‘गुरुदेव एक वृद्ध महिला बीमार है। दर्शन दे दीजिए।’ गुरुदेव थके हुए भी होते थे तो भी परवाह नहीं करते थे। अतः दर्शन देने पधार गये। मंगलपाठ सुनाया। गाँव वालों ने बताया—ये डॉक्टर साहब खड़े हैं, इनके पुत्र हैं, विदेश में प्रेक्टिस कर रहे हैं, माता बीमार पड़ी तो इन्हें बुलाया गया है। डॉक्टर साहब कहने लगे—‘ये गाँव वाले तो अज्ञानी हैं, कुछ जानते नहीं। यदि इजाजत दें तो मैं एक इंजेक्शन से इनको शारीरिक दिला दूँ।’ उन डॉक्टर साहब ने संभव है एबोर्शन करने शुरू कर दिए हों अतः उन्हें तो हत्याएँ ही दिखाई देती थीं। कालशौकरिक कसाई को कैद भी कर दिया गया तो उसने मैल के पाड़े बनाकर अपनी आदत का पोषण शुरू कर दिया। उसकी भावधारा में हत्या के संस्कार जमे हुए थे। आज गर्भ का तो क्या, मानवों का कल्प करने में भी हिचक नहीं रही है। आज डाक्टर लोभ में कुछ भी कर सकते हैं। एक सत्य घटना सुना रहा हूँ। चुरू का एक भाई था। कोलकाता में रहने लगा था। पूज्य गुरुदेव के मुम्बई चातुर्मास का प्रसंग

था। सन् 1985 की बात है। उसे अपना स्वास्थ्य गड़बड़ लगा तो डॉक्टर को दिखाया। उस डॉक्टर ने मुम्बई के एक प्रसिद्ध हॉस्पिटल का पता दे दिया। कहा-वहाँ जाँच करा लेना। वह वहाँ पहुँचा। जिस डॉक्टर को दिखाया उसकी उम्र लगभग पैंतीस वर्ष की थी। उसने जाँच करके कहा-‘आपको तुरन्त भरती होना पड़ेगा, हार्ट की बीमारी है।’ उस व्यक्ति की वहाँ आधी जान जैसे निकल गई। छोटी उम्र, बाल-बच्चे-परिवार का दायित्व, अवसाद उसकी भावधारा में पैठ गया। उसका एक बहनोई शांताक्रुज में रहता था। सलाह दी-‘एक डॉक्टर को और दिखा दो।’ वे मुम्बई अस्पताल में पहुँचे। वहाँ का डॉक्टर लगभग पचपन वर्ष की उम्र वाला था। उसने जाँच की और रिपोर्ट दी-‘आपकी श्वास नलिका में थोड़ी खराबी है, अन्य कोई बीमारी नहीं है। हार्ट की बीमारी तो है नहीं। पिछले वर्षों में हार्ट खराब हुआ नहीं है और निकट भविष्य में भी खराब होने की संभावना नहीं है।’ बेचारा भाई विचार में पड़ गया। ये क्या तमाशा है? डॉक्टर-डॉक्टर की जाँच में इतना अंतर। एक कहता है कि तत्काल ऑपरेशन आवश्यक है और दूसरा कहता है कि दिल की बीमारी की कोई संभावना भी नहीं है। क्या किया जाय? रोगी की मनोवैज्ञानिक स्थिति की जरा कल्पना कीजिये। बेचारा क्या करे, क्या न करे। भीषण मानसिक तनाव में वह पहले डॉक्टर के पास गया। चुंकि कोलकाता के डॉक्टर ने उसे उसी डॉक्टर के पास रेफर किया था। जब उसे मुम्बई हॉस्पिटल के डॉक्टर का निदान बताया तो नाराज हो गया। कहा देख लो फिर इमरजेंसी में आओगे तो मैं केश हाथ में नहीं लूँगा। वह बेचारा फिर घबराया। वह दूसरे डॉक्टर के पास फिर गया और पहिले डॉक्टर की जाँच-रिपोर्ट की बात उसे बताई। उस पचपन वर्षीय डॉक्टर ने उससे कहा-तुम्हें किस पर विश्वास है। मैं कह चुका हूँ कि ऐसी कोई संभावना नहीं है। अच्छा ये बताओ कि उस अस्पताल वाले डॉक्टर की उम्र क्या थी? रोगी ने बताया-लगभग पैंतीस वर्ष। तब इस दूसरे डॉक्टर ने कहा-‘देखो भाई, डॉक्टरी की पढ़ाई में खर्च लगता है। इस उम्र में आते-आते काफी सम्पत्ति लग जाती है और डॉक्टर चाहता है कि अभी अर्जन कर लूँ। एक ऑपरेशन से ही दस-बीस हजार मिल सकते हैं। बंगला, कार प्राप्त करने की उसकी कामना होगी। अतः जो

आता होगा उस पर वह हाथ डालने की कोशिश करता होगा। पर मैंने बहुत-कुछ कर लिया है। अब सोचता हूँ कि कुछ मानवता की सेवा भी कर लूँ। मैंने आपको सही स्थिति बता दी है। विचार तो करिये कि यदि कोई गड़बड़ी नहीं है तो आँपरेशन से वह कुछ गड़बड़ी ही पैदा करेगा और एहसान से दबे आप हर छः माह में जाँच करवाते रहेंगे।' उस भाई ने सलाह मानी और आँपरेशन नहीं कराया। वह अभी भी जीवित है और उसे हार्ट की कोई तकलीफ भी नहीं है। बंधुओं, देखिये, लोभ क्या-क्या अपराध नहीं करवाता है। बात विचारणीय है। ऐसी भावधारा का शोधन नहीं किया तो वह जीर्ण होती चली जायेगी।

देवकी की स्थिति पर विचार कीजिये। वह घर लौट आई और विचारों में डूब गई। कृष्ण चरण-वंदन को आये, पर माता ने ध्यान नहीं दिया। व्यक्ति जब दूसरे विचारों में खोया होता है, तब उसे आसपास का ध्यान नहीं रह पाता। स्पर्श का भी अनुभव नहीं हो पाता। माता को पता ही नहीं पड़ा कि कौन उपस्थित हुआ था। कृष्ण को विचार आया, अरे मैं दुनिया का दुःख दूर करता हूँ और मेरी ही माँ यदि दुःखी रहे तो फिर मैं कैसी संतान? मेरा भी कुछ कर्तव्य है। माँ को तीन बार आवाज लगाई। माँ मानो सोते से जाग पड़ी। कृष्ण बोले—‘माँ मैं आता हूँ तब तुम मेरी पीठ और माथा सहलाती हो पर आज तुम्हें क्या हो गया है?’ माता झूर रही थी। कृष्ण ने तो आश्वासन दे दिया, सान्त्वना दे दी। बहिनों ध्यान रखिये, यदि आपने गर्भ में ही बच्चे की हत्या कर दी तो फिर मातृत्व प्राप्ति की स्थिति नहीं रहेगी और फिर भले ही आप झूरो, आपकी चाहत पूरी नहीं हो पायेगी, अतः प्रतिज्ञा कर लो कि आप किसी के दबाव में आकर अथवा स्वेच्छा से आने वाली संतान की हत्या नहीं करेंगी, उसे आश्रय देंगी।

देवकी कह रही थी—‘मैंने किसी को गोद में नहीं खिलाया, पालने में नहीं झुलाया, दूध पिलाते हुए संस्कार नहीं दिये।’ इसलिए पुत्रों को जन्म देना सार्थक नहीं हो पाया। वे माताएँ धन्य हैं जो अपनी संतानों को स्तनपान कराती हुई, झूला झूलाती हुई उन्हें संस्कारित करें।

एक ऐतिहासिक घटना है। जोधपुर के महाराज जसवंतसिंहजी

एक बार युद्ध में भयभीत हो कर वापस लौट आये। वे युद्ध से भागकर आये थे। जब घर पहुँचे तो महारानी ने कहा—मैं द्वार नहीं खोलूँगी। मेरा पति कायर नहीं हो सकता, जो भाग कर आया है वह कायर है, वह मेरा पति नहीं हो सकता। माँ ने उसके शब्द सुने। कहने लगी—‘बीदणी यदि द्वार नहीं खोलेगी तो यह वहाँ से तो भागकर आया है, अब कहाँ जायेगा?’ उसने सैनिकों से कहा—द्वार खोल दो। माँ का वात्सल्य भाव था। बींदणी से कहा—पुत्र थकर कर आया है उसके लिए गरम हलवा बना दो। बींदणी नहीं चाहती थी पर आज्ञा हुई थी अतः वह हलवा बनाने बैठी। खुरपा हिला। लोहे से लोहा टकराया तो आवाज होने लगी। राजमाता कहने लगी—‘बहू, इतनी जोर से आवाज क्यों कर रही हो? रण में तलवार की टकराहट से मेरा बालक डर कर भाग कर यहाँ आया है। यहाँ भी डर गया तो फिर कहाँ जायेगा?’ पुत्र ने कहा—माता, तुम ये क्या कह रही हो? उत्तर मिला—‘हाँ बेटे, मैंने सावधानी नहीं रखी। एक बार बाल्यावस्था में तुम रो रहे थे। मैंने दासियों को खिलाने के लिए सौंप दिया था। चुप नहीं हुए थे तो एक दासी ने अपना दूध पिला दिया था। मुझे मालूम पड़ा तो मैंने मुँह में हाथ डालकर उल्टी भी कराई थी पर उस दूध का कुछ अंश फिर भी रह गया होगा। वही आज दुःखदायी बना है। यदि वह दूध का अंश नहीं होता तो यह स्थिति नहीं आती। यह मेरी ही त्रुटि थी। मेरे दूध का अंश होता तो मेरा पुत्र ऐसा कायर नहीं निकलता।’ जसवंतसिंह के हृदय में वीरता के भाव उत्पन्न हो गये। कहा—‘माँ, बस—बस अब मत बोलो। मैं विजय प्राप्त करके ही लौटूँगा।’ और उन्होंने बाद में विजयश्री हासिल भी की। सोचिये, कायरता का वह काला दाग क्यों लगा? क्योंकि माता के दूध में मिलावट हो गयी थी। कितना गहरा संबंध है माँ के दूध और पुत्र के चरित्र का। आज कहा जाता है स्तनपान मत कराओ, माता बीमार हो जायेगी। पर बीमारी का कारण दुग्धपान करना कभी नहीं होता बल्कि वह तो माता और सन्तान दोनों के लिये स्वास्थ्यकर है। वात्सल्य भाव से संतान को जैसा दूध माता पिलायेगी, सन्तान का जीवन वैसा ही बनेगा। आज माता कहती है—पुत्र तो मुझे माँ समझता ही नहीं। अरे! समझेगा कैसे? उसे वात्सल्य नहीं दिया गया इसलिये वह कहता है आपने क्या उपकार किया? आपकी

विषय-वासना के कारण ही मुझे गर्भ में रहना पड़ा। आपने उसे वात्सल्य से अलग कर दिया।

श्रीकृष्ण देवकी का झूरना दूर करने के लिए, परदे की आड़ में गये, वैक्रिय शक्ति से बालक का रूप बनाया, कभी माता के कपड़े खींचे, कभी केश खींचे। माता ने लाड़-प्यार किया। नहलाया, धुलाया। कृष्ण ने देखा-माता की ममता का तो अंत नहीं आ रहा है, राज्य व्यवस्था का क्या होगा? लीला दिखाइ। तुललाते हुए कहने लगे-‘माँ भूत लगी है।’ अरे बेटा भूख लगी है तो ले वह दूध पी ले।’ कटोरा मुँह से लगाया-‘यह तो फीका है।’ दूध को मीठा कर दिया। ‘इतना मीठा दूध मुझे नहीं भाता।’ ‘अच्छा कोई बात नहीं, किस बात की कमी है, कोई किसान का घर थोड़ी है। दूसरा दूध पीले।’ ‘नहीं, दूसरा नहीं पीऊंगा, यही दूध पीऊंगा पर इतना मीठा भी नहीं पीऊंगा।’ माता परेशान हो गई। ‘बेटे, अपनी लीला समेटा।’ कृष्ण ने परदे के पीछे जाकर पुनः रूप परिवर्तन किया। ‘अरे बेटे, वह कौन था? तू इतना बड़ा हो गया यह भी नहीं जानता कि दूध से बूरा-शक्कर निकाला नहीं जा सकता?’ ‘माँ, वह तो बालक ही जाने, मैं क्या जानूँ? बालक तो बालक की बात करेगा उसमें समझदारी कहाँ होगी?’ माता ने कहा-‘कृष्ण, तुम भले बहलाओ पर मुझे संतोष नहीं होगा, न चैन पड़ेगा, जब तक बालक को संस्कारित करने के लिए वात्सल्य रस प्रवाहित न करूँ।’ सोचिये, कितने गहरे रिश्ते होते हैं माता और सन्तान को। पर यदि माता मातृत्व का हनन करे तो क्या कृष्ण जैसे पुत्र प्राप्त कर सकती है? आज तो कुएं में भाँग पड़ गई है। माता कर्तव्य के प्रति सजग नहीं। बालक को बालमंदिर में भेज दिया। जाओ चार-छः घंटे मुझे छुट्टी रहेगी। बालक की बुद्धि कुठित हो जाती है। महात्मा गांधी ने कहा है, सात वर्ष से पूर्व बालक पर भार नहीं डाला जाये। आगम कह रहे हैं जब वह बालभाव से मुक्त हो जाये तभी उस पर भार डाला जाये। पर आज तो जो बालक के खेलने के दिन अथवा जो अंकुरित पौधा है उस पर ही मिट्टी डाल दी जाती है। उसका विकास रूक जाता है, क्षमता का हास हो जाता है। माताओं को देवकी के मातृत्व का आदर्श अपनाना होगा, माता के कर्तव्य के प्रति सजग

होना होगा, तभी भारत, जो ऋषि-मुनियों की भूमि रहा है, पुनः ज्ञानियों से पूर्ण होगा और कमी नहीं आयेगी। भारतमाता गैरवान्वित होगी। अतः भावधारा का शोधन करें, उसमें वैकारिक भावों को नहीं जोड़ें। चिन्तन-मनन के द्वारा भावधारा को निर्मल बनायें। तभी जीवन में मंगलमय दशा का प्रसंग बनेगा।

भाद्रपद कृष्णा अमावस्या

12-9-96

18

सम्यक् शोधन-आत्म प्रबोधन

‘संयोगा विष्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो’ अर्थात् संयोग से विशेष रूप से और लंबे समय के लिए जो मुक्त हो गया है वह अणगार होता है। ‘संयोगा विष्पमुक्कस्स’ पदों की व्याख्या करने पर हम अर्थ ग्रहण करने में भले ही सक्षम हों, हम व्याख्या में पहुँच जाते हों, पर यथार्थ में ये सूत्र व्याख्या की नहीं, अन्वेषण की माँग करते हैं। अतः हमें खोज करनी चाहिए। उसी प्रकार जिस प्रकार वैज्ञानिक करते हैं जो छोटा-सा सूत्र पाकर अनुसंधान की दिशा में बढ़ते हैं और जनता के सामने नये-नये अविष्कार प्रस्तुत कर देते हैं। जो अविष्कार वे प्रस्तुत करते हैं उनका बीज इसी सृष्टि में होता है। यदि बीज नहीं होता तो तीन काल में भी वैज्ञानिक कुछ प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। जो प्रस्तुत किया जा रहा है वह है परन्तु हमसे ओझल है, हम उसे देख नहीं पा रहे हैं। वैज्ञानिकों ने शोध की अथवा खोज की और बीज को वृक्ष के रूप में उपस्थित कर उसके महत्त्व को प्रदर्शित कर दिया। मैं भी सूत्र के अन्वेषण की बात कह रहा हूँ जब हम चिन्तन की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब हम संयोग को निर्यति करने के लिए प्रत्याख्यान सूत्रों के माध्यम से मन, वचन और काया को निर्यति करने का विचार करते हैं और संकल्प भी ग्रहण करते हैं, लेकिन इस माध्यम से भावधारा तक प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता और भावधारा में प्रवेश के लिए शोधन प्रक्रिया, जिसका दूसरा अर्थ है सफाई अभियान, अपनाई जा सकती है। अवरोध पैदा करने वाले मन को यदि रोका नहीं जाता, भीतरी कमरे की सफाई

नहीं की जाती तो भावधारा को निर्मल नहीं किया जा सकेगा।

सभी दर्शन और दार्शनिक इस एक विषय पर सहमत हैं कि कारण के बिना कार्य की निष्पत्ति नहीं होती। कार्य है तो कारण अवश्य होगा। वृक्ष है तो बीज की सत्ता भी निर्विवाद सिद्ध है। जो कार्य निष्पादित हो चुका है उससे कारण का अन्वेषण किया जा सकता है। हमारी भावधारा पर यदि मलिनता या संयोग का लेप लगा हुआ है तो वह एक प्रकार से कार्य है, तो जानना होगा उसका कारण क्या है? उसका कारण अथवा बीज हमारे भीतर ही है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—रागो य दासो वि य, कम्म बीयं, अर्थात् राग और द्वेष-ये दो कर्म के बीज हैं। राग और द्वेष-ये भाव कर्म हैं और नये कर्म के उत्पादन हेतु बीज रूप से कार्य करते हैं। एक व्यक्ति आ रहा है, मार्ग में मुनि मिल गये। उसने कटु शब्दों से मुनि का स्वागत किया, विभिन्न तौर-तरीकों से उपहास किया। मुनि ने बातें सुनी पर विचार नहीं किया। साथ में ही चल रहे मुनि के उपासक ने भी ये बातें सुनी। बात वैसे कुछ नहीं थी पर उसका विचार बना कि संतों का कठोर शब्दों से उपहास करना अयुक्त है। मुनि ने विषय को प्रवेश नहीं दिया, देना भी नहीं चाहिए था। क्योंकि यदि प्रवेश दिया जाता और वह यदि भावधारा से जुड़ जाता तो घातक होता और आगे नये बीजों को अंकुरित करता, मुनि यह जानते थे। लेकिन उस भाई ने विचार किया, प्रवेश दिया तो आगे बात तन गई। बात इतनी बढ़ी कि दोनों के मन में रोष उभरने लगा। रोष से भावधारा में जो कुछ निर्मित हुआ उसने गहरे संस्कार का रूप ले लिया। वह एक-दूसरे के प्रति द्रोह, द्वेष और बैर का कारण बना। बात ही बात में तन गई और भावधारा मलिन हो गई। अब यदि उस भावधारा को निर्मल करना है तो शोधन आवश्यक है। जिससे कारणों की खोज करके उन्हें नष्ट किया जा सके। प्रभु ने शोधन प्रक्रिया के लिए जो सूत्र दिए हैं, उसके माध्यम से निर्देश दिया है कि यदि भावधारा को निर्मल करना चाहते हो तो अपने पापों को उगलने का प्रयत्न करो। आज मनोचिकित्सक जो मन की गहराइयों का अध्ययन करना चाहते हैं, कुछ ऐसी ही प्रक्रिया का सहारा लेते हैं।

एक आठ-दस वर्ष की बच्ची बीमार हो गई। कारण बना उसका भाई। खेल-खेल में अनबन हो गई, उसने कह दिया-मैं अब तुम्हारे साथ कभी नहीं खेलूँगा। गहरा सदमा लगा। बच्ची बीमार हो गई। पिता करोड़पति सेठ था, खाने-पीने की कमी नहीं थी, सारे संयोग सुलभ थे। बच्ची माता-पिता की लाडली थी अतः सभी हैरान हो गए। एक नहीं अनेक चिकित्सक आ गये। अनेक जाँचें हो गई, दवाई भी दी गई पर निदान नहीं हुआ। एक मनोचिकित्सक भी आया। उसने कहा-मैं बीमारी का उपचार करने की स्थिति मैं हूँ। परिवार वाले उसे देवता का अवतार मानने लगे। डॉक्टर साहब उसे बचा लीजिए, पैसे की चिन्ता मत करियेगा। लाखों रुपये लगे, चाहे जितनी कीमती दवाई लगे, हमें मंजूर है। बिटिया बच जानी चाहिए। डाक्टर ने कहा-प्रयत्न करना मेरा कर्तव्य है, आगे क्या होगा यह भावी के गर्भ में है। परिवार वालों ने कहा, बी. पी. इन्स्ट्रूमेंट, इ.सी.जी. जो कुछ चाहिए हमने सारे साधन घर पर उपलब्ध कर रखे हैं। जो चाहिए हम प्रस्तुत कर देंगे। डॉ. ने कहा-मुझे कोई यंत्र नहीं चाहिए। मैं एक बार मरीज को देखना चाहता हूँ। डॉक्टर ने गहराई से निरीक्षण किया। बच्ची पलंग पर सोई हुई थी, शरीर के अवयवों को देखा और अन्वेषण किया। फिर माता-पिता की ओर मुखातिब होकर बोला-मैं आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ। माता-पिता सोचने लगे, केस सीरियस है, सामान्य नहीं तभी ये मरीज के सामने नहीं बल्कि अलग से कुछ कहना चाहते हैं। वे अलग कमरे में पहुँच गये। बातचीत की गई। अनेक प्रश्न और समाधान हुए। डॉ. ने पूछा-घर में और कौन है? नौकर-चाकर के अलावा इसके एक भाई और है। इसी का हमउम्र है। डॉ. ने कहा-मैं उससे भी बात करना चाहता हूँ। उसे बुलाया गया। डॉक्टर साहब ने उसकी बातें ध्यान से सुनने के बाद उठते हुए कहने लगे-'मुन्ने, क्या तुम चाहते हो तुम्हारी बहिन अच्छी हो जाय?' मुन्ने ने चहककर कहा-'हाँ हाँ जरूर। उसके बिना मेरा भी मन नहीं लगता।' डॉक्टर साहब ने कहा-आओ मेरे साथ। वे बच्ची के पास पहुँचे। बालिका पलंग पर लगभग बेसुध-सी सोई थी। आँखें बंद, खाना पीना बंद, आवाज देने पर भी आँख नहीं खोलती थी। परिवार वाले चिन्तित थे कि इसने श्वांस लिया है, वापस छोड़ेगी भी या नहीं।

डॉक्टर साहब खाट पर बैठ गए। मुन्ने को सिर की ओर खड़ा करके कहा—अपनी बहिन के कान के पास आवाज करते हुए कहो कि ‘बहिन उठो ना, चलो अपन गेंद खेलों।’ मुन्ने ने एक बार कहा और डॉक्टर की ओर देखने लगा। डॉक्टर की ओर देखने लगा। डॉक्टर ने कहा—एक बार और कहो। अब तो चमत्कार हो गया। बहिन ने आँखें खोल दीं, फिर बंद कीं, फिर खोलीं। डॉक्टर ने कहा—मुन्ने एक बार और कहो। उसने वही बात फिर कह दी। इस बार बहन की आँखें भूमने लगीं। एक बार और कहा तो वह उठकर बैठ गई—‘हाँ भैया, तुम मेरे साथ गेंद खेलोगे।’ भाई ने कहा—‘इसीलिए तो पुकार रहा हूँ।’ बच्ची ने कहा—‘मम्मी प्यास लगी है।’ सभी हर्ष से प्रफुल्लित हुए। इतने दिनों से आज इसने पानी मांगा है, पानी पिलाया गया। फिर उसने कहा—मुझे जोर से भूख लगी है। उसे भोजन कराया गया। फिर उसने कहा—‘भैया चलो गेंद खेलेंगे’ और दोनों खेलने में लग गये।

जिसे पारिवारिक जन गंभीर रोग समझ रहे थे, जिसकी चिकित्सा के लिये लाखों रूपये खर्च करने के लिए तत्पर थे, उसकी चिकित्सा हेतु एक पुड़िया भी नहीं लेनी पड़ी। बच्ची ठीक हो गई। प्रभु महावीर की दिशा में बढ़कर मनोचिकित्सक ने निदान किया था। प्रभु ने कहा है, आलोचना, गर्हा और आत्म-निन्दा करो, भीतर जो भी ग्रंथियाँ बन गई हैं उन्हें उगल दो। मानसिक दशा विकृत हो जाने से, संकोच से व्यक्ति जब बोल नहीं पाता तब मनोचिकित्सक उसे इंजेक्शन से बेसुध कर देते हैं फिर वार्ता प्रारंभ की जाती है और बेहोशी के क्षण में यंत्रों के माध्यम से वार्तालाप किया जाता है। परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति भीतर की जमी बातों को निकाल देता है; वैर-विरोध की सारी बातें वह कह देता है। इस प्रकार अनेक अपराधी अपराध स्वीकार कराकर पकड़े जाते हैं। वहाँ तो बेहोश किया जाता है पर यहाँ प्रभु कह रहे हैं—हे आत्मन्! भावधारा को निर्मल करना है तो आलोचना कर। क्यों कही आलोचना की बात? संसार को बढ़ाने वाले तीन बीज संसार वृद्धि के कारण हैं, इनके रहते हम मुक्त नहीं हो सकते। वे बीज हैं—(1) माया शल्य (2) निदान शल्य (3) मिथ्या-दर्शन शल्य। ये शल्य मोक्ष-मार्ग के विघातक

हैं, अनन्त संसार-वृद्धि के कारण हैं। गौतम स्वामी ने पूछा-‘भगवन् इन शल्यों को दूर करने का सूत्र क्या है? ये शल्य तो जन्म-जन्मांतर तक नुकसान पहुँचाने वाले हैं। प्रभो, आप करूणा के अवतार हैं-प्रत्येक प्राणी के लिए निर्झर रूप हैं; आप जैसे समर्थ चिकित्सक के रहते प्राणी पीड़ित न हों, ऐसी कृपा करें। आप जैसे तेजस्वी सूर्य के रहते अंधकार का विलीनीकरण होना ही चाहिए।’ गौतम की अनुनय का उद्देश्य था कि प्रभु ने गंभीर गिरा में कहा-‘जहाँ रोग है तो चिकित्सा भी है। शंका है तो समाधान-कार्य है, कारण भी है। उपाय है। वह है ‘आलोयणा’। आप प्रतिक्रमण के समय कायोत्सर्ग में कहते हैं-‘आलोऊँ।’ अगर भावधारा से उसका गहरा संबंध नहीं जुड़ पाता है तो यह मात्र औपचारिक रह जाता है। इस विषय को कुछ खोलकर कहूँ।

आलोचना-‘आ’ उपसर्ग में ‘लोचृ दर्शने’ से शब्द बना है। ‘आ’ समन्तात् अर्थात् चारों तरफ से। ‘आ’ का सामस्त्येन अर्थ में भी प्रयोग होता है। अपने अंतर में दृष्टि डालकर अन्वेषण कर बात को प्रकट करना या देखना-यह है आलोचना। सामस्त्येन अर्थात् समस्त प्रकार से और इस प्रकार अपने भीतर की स्थिति जो-कुछ भी आपने देखी उसे गुरु के सामने प्रकट करना। प्रतिक्रमण करते समय कायोत्सर्ग में जो ‘आलोऊँ’ कहा जाता है उसका भी तात्पर्य है कि अपने भीतर छान-बीनकर देखना कि कौन-सा कीटाणु है। दुष्प्रवृत्तियों से भाव-धारा मतिन हो रही है। अतः उन कर्म परमाणुओं, कर्म स्कन्धों को देखने का प्रयास करें। यद्यपि उन्हें देख नहीं सकते पर उनके कार्य से उसका अनुमान कर सकते हैं। उन दुष्प्रवृत्तियों को खोजना है जो भावधारा को मतिन कर रही हैं। कृष्ण के संदर्भ में इसे समझें। उन्होंने माता को आश्वासन दिया था। विचार करने लगे कि अतिमुक्त मुनि ने जो बात कही है कि आठ पुत्रों को जन्म देगी तो निश्चित रूप से मेरे भाई तो होगा, पर कब-यह जानकारी नहीं है। माता विह्ला है, उपाय करना चाहिए। भीतर अनुसंधान किया तो स्फुरण हुई कि इस कार्य में हरिणगमेषी देव सहयोगी बन सकते हैं। वे पौषधशाला में जाकर तेला करते हैं, पौषधग्रहण करते हैं। कृष्ण सम्यग्दृष्टि आत्मा हैं। आचारांग सूत्र में (1/3/2) कहा है-

सम्भृत दंसी न करेइ पावं।

अर्थात् सम्यक्दूषि आत्मा पाप नहीं करती। सम्यक्दूषि का लक्ष्य पाप का नहीं रहता है। उसके लक्षण हैं—सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था। सम अर्थात् शत्रु-मित्र पर समभाव, संवेग अर्थात् मोक्ष के प्रति भावना बनना और निर्वेद अर्थात् संसार के विषयों से उदासीनता। इनमें संवेग, निर्वेद ये सूत्र बता रहे हैं कि सम्यक्त्वी का उद्देश्य पाप नहीं है। उसे करना पढ़े, यह बात अलग है पर वह अंतर से स्वयं को भिन्न रखने का प्रयत्न करता है। जैसे धायमाता राजकुमार को खिलाती है, नहलाती है पर उससे अपनत्व के बंधन में नहीं बंधती, लगाव पैदा नहीं करती। आप भी लगाव न करें। सम्यक्-दूषि आत्मा पाप नहीं करती और इरादतन पाप कार्यों में नहीं जुड़ती। भगवती सूत्र में संदर्भ है—गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्, एक व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि मैं निरपराध त्रस जीव को नहीं मारूँगा, प्रथम अणुब्रत स्वीकार कर लिया। आप पहले व्रत स्वीकार करो, नियंत्रण होगा तथा शोधन होगा। यदि नियंत्रण क्षमता नहीं तो शोधन कैसे होगा? हाँ, तो उसने प्रतिज्ञा कर ली और वही व्यक्ति पृथ्वीकाय का आरंभ करता है, खेती करता है खेती करते हुए पृथ्वीकाय की निशा में रह रहे त्रस जीवों का भी आरंभ हो गया। सर्व या छोटे-छोटे जीवों की मृत्यु हो गई। भगवन्! जिसने व्रत ले रखा है क्या उसका व्रत खोंडित हुआ, उसमें दोष लगा? उत्तर मिला—‘हे गौतम! णो इणट्ठे समट्ठे। यह अर्थ समर्थ नहीं, उसका उद्देश्य त्रस जीवों की हिंसा का नहीं था, स्थावर जीवों की हिंसा का उसके त्याग नहीं था। अतः उसे व्रत भंग दोष नहीं लगा।’ साथ ही कहा गया है कि सम्यक्दूषि जीव सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाला बंध नहीं करता, ऐसा बंध मिथ्यादूषि ही करता है। पूरे एक कोटाकोटि सागरोपम का भी नहीं। कहने का तात्पर्य है कि सम्यक्दूषि का उद्देश्य पाप नहीं होने से उसके पाप कर्म नहीं बंधता। बात चल रही थी श्रीकृष्ण की, कृष्ण ने देव को बुलाने के लिए पौष्टि किया, वे सम्यक्दूषि थे, उनमें मिथ्यातत्व नहीं था। आप कहेंगे जब कृष्ण ने सांसारिक कार्य के लिए पौष्टि किया तो हम करें तो क्या हर्ज है? पर तथ्य को समझना होगा। सम्यक्दूषि आत्मा पाप नहीं करती। कृष्ण ने

जो साधन अपनाया वह पापकारी नहीं था। उसने देव को बुलाने के लिए धूप-दीप नैवेद्य का प्रयोग नहीं किया, देव की मूर्ति बनाकर पूजा नहीं की। यदि प्रतिमा में देवता होते तो औरंगजेब द्वारा प्रतिमाओं की दुर्दशा नहीं हो पाती। देव शक्ति सम्पन्न होते हैं। वे मूर्ति में आबद्ध नहीं रह सकते। उन्हें मूर्ति में आबद्ध मानना सिर्फ हमारे अज्ञान का पोषण है। भगवान् या देवता की मूर्ति किसने बनाई? कारीगर ने। तो जब कारीगर ने भगवान् बना दिया तो वह स्वयं भगवान् क्यों नहीं बन गया? कहा जाता है—मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। आगम साक्षी हैं—क्या निर्जीव में प्राण-प्रतिष्ठा संभव है? प्राण दो प्रकार का होता है—1. द्रव्य 2. भाव। द्रव्य प्राण दस व भाव प्राण चार हैं। वे (भावप्राण) आत्मा के साथ रहते हैं। द्रव्य प्राण मूर्ति में प्रक्षिप्त नहीं किए जा सकते क्योंकि वे तो गर्भ में ही जीव के साथ जुड़ जाते हैं। यदि कहें कि मंत्रों से प्राण-प्रतिष्ठा होती है तो फिर हमें भी मंत्रों की कृपा से संदेह मोक्ष क्यों नहीं मिल जाता? कृष्ण इस तथ्य से परिचित थे इसीलिए वैसी आराधना नहीं की। सम्यक्दृष्टि भाव से कार्य किया। पौष्टि में देव के साथ आत्म सम्पर्क किया। आज का टेलीपैथी सिद्धांत कहता है—आत्म सम्पर्क संभव है। हम अपने से हजार कोस की दूरी पर रह रहे व्यक्ति को मन से ही बुला सकते हैं और वह आ सकता है। टेलीपैथी में इतना बल है क्योंकि उसके माध्यम से भावधारा का संयोग बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार संयोग बनाना चाहता है पर ऐसा कैसे हो? भावधारा कैसे जुड़े? भावधारा ठीक हो तो आप शांत रहेंगे। तालाब के पानी में तरंगें आती हैं कुएँ में नहीं। भावधारा दह की भाँति है और मन कूप की तरह। मन शांत है, तरंगें नहीं उठ रही हैं, तो भावधारा के साथ मन का संयोग करके कृष्ण ने देव का स्मरण किया। कृष्ण ने विधिपूर्वक पौष्टि पूर्ण किया। यह नहीं कि पौष्टि में ही देव चला न जाय। तेले तो आज भी होते हैं पर देव नहीं आते क्योंकि भावधारा पर नियंत्रण और शोधन हो तो देव को बुलाना कोई बड़ी बात नहीं है। कृष्ण ने पौष्टि को विधि से पूर्ण किया और फिर देव के यह पूछने पर कि मुझे क्यों याद किया, कृष्ण ने कहा—मेरे एक भाई और होना चाहिए। देव ने कहा—आप तत्त्वों

के ज्ञाता हैं, देव में शक्ति नहीं कि किसी को बेटा या भाई दे सकें पर अवधि ज्ञान से जानकारी हो तो बता सकते हैं। जानकारी यह है कि देवलोक से च्युत होकर एक देव तुम्हारे भाई के रूप में जन्म लेगा किन्तु यौवन की दहलीज पर आते ही बाल-भाव से उन्मुक्त हो कर मुनि बन जायेगा। संयोगा विष्पमुक्कस्स....परिवार के ममत्व को छोड़ देगा, निर्ग्रन्थ बन जायेगा। समय के साथ कृष्ण के भाई का जन्म हुआ, देवकी की अभिलाषा पूर्ण हुई, भगवान् अरिष्टनेमि का आगमन हुआ, कृष्ण अपने अनुज गजसुकुमाल कुमार के साथ दर्शन करने पहुँचे। भगवान् ने कहा-संयोगा विष्पमुक्कस्स, संयोग आत्मा को दुःखी करते हैं। उससे मुक्त होना चाहिए।

भगवंत वाणी सुनते ही वे जाग्रत हो गए। भगवान्, मेरी आत्मा इतने समय तक संयोगों में भयंकर रूप से जकड़ी रही है। पैरों से आकंठ ही नहीं मस्तक तक जकड़ा हूँ। भगवन् इस नागपाश से मुक्त करो। नागपाश से मेघनाथ को बांधा गया था, हनुमान को बांधा गया था। हनुमान ने क्या किया? छोटा रूप बनाकर बंधन से मुक्त हो गये। पाश का अर्थ रस्सी भी है और देखना भी है। आर्द्रकुमार साधु बन गये, देवों ने मना भी किया पर नहीं माने, भोगावली कर्मों के कारण वापस गृहस्थ जीवन में आ गये। बारह वर्ष पूर्ण होने वाले थे। पल्ली चरखा लेकर सूत कातने बैठी। पुत्र ने पूछा-माँ क्या कर रही हो? उत्तर मिला-‘बेटे तुम्हारे पिता साधु बनने की तैयारी में है। वे चले जायेंगे, फिर क्या करूँगी। चरखे चला कर जीवन बसर करूँगी।’ पुत्र ने कहा-‘ऐसी बात है तो मैं नहीं जाने दूँगा।’ धागा लेकर पहुँचा। पिताजी सोए थे। उसने धागे से बांध दिया। ‘पिताजी मैंने बांध दिया है आप छोड़कर नहीं जायेंगे।’ आर्द्रकुमार फिर उस पाश में बंध गये। जितने आंटे हैं उतने वर्ष तक घर छोड़ कर नहीं जाऊँगा। कहते हैं वे फिर 12 वर्ष के लिए बंध गए। सूत में बांध ने की क्षमता नहीं थी पर संयोग, स्नेह, मोह ने बांध लिया, जकड़ गए। गजसुकुमाल कह रहे हैं-संयोग को छोड़े बिना आत्मा निर्मल नहीं होगी, मैं शाश्वत सुख को पाना चाहता हूँ। ‘अम्मापियरं आपुच्छामि’ माता-पिता को पूछकर आपके समीप दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ।

भगवान् ने कहा—अहासुहं देवानुप्पिया! भगवान् का मार्ग, जबरदस्ती का मार्ग नहीं है। गजसुकुमाल माता के पास पहुँचे। कृष्ण तो पहले ही चले गए थे, सम्प्यक्दृष्टि आत्मा थी। उन्होंने देखा गजसुकुमाल भगवान् की भक्ति में है। वे साथ लाये थे पर ले नहीं गए। ये बाद में पहुँचे। माता से अनुनय-विनय की। माता ने कहा—‘पुत्र तुम्हारा नाम ही गजसुकुमाल है। गज के तालु के समान कोमल शरीर, साधु जीवन की आराधना कोई सरल कार्य नहीं है। वहाँ मखमली गदे-तकिए नहीं होंगे। जमीन पर शयन करना होगा। पैदल यात्रा करनी पड़ेगी। वत्स-संयम का मार्ग कठिन है।’ गजसुकुमाल ने कहा—‘माँ, तुम कह रही हो वह यथार्थ है, तुम झूठ नहीं कह रही हो, मैंने नहीं जाना, लेकिन जो—कुछ जाना वह आपकी बात से ही जाना कि वह पथ कंटकाकीर्ण है। पर आप से प्रश्न है—आप वीर पुत्र की माता हैं या कायर पुत्र की?’ माता क्या जवाब देती। कोई भी माता अपने पुत्र को कायर नहीं कह सकती। सोच रही थी—मैं वीर माता हूँ, मैंने वीर पुत्र को जन्म दिया है। मैंने जन्म से ही नहीं किंतु गर्भ में भी संस्कार दिए हैं। पुत्र कह रहा था—‘माँ, कायर घबराता है, वीर वैसे मार्ग पर चलने से घबराता थोड़े ही है।’

जरा हम अपनी ओर देखें। आज हम छोटे-से प्रत्याख्यान में बंध ने से घबराते हैं। यद्यपि प्रत्याख्यान का बंधन नहीं है वरन् बंधन को तोड़ने वाला है। गाय खूंटे से बंधकर ही सुरक्षित रह सकती है। यदि खूंटा छोड़ दें, जंगल में दौड़ जाए तो खूंखार जानवर गाय को मार डालें। सोचिये, ब्रतों के खूंटे से नहीं बंधे तो असंयम और विकारों के खूंखार जानवर—जन्तु हावी हो जायेंगे। बहुत चर्चा हुई। माता ने कहा—‘लाल, और तो मैंने बहुत-कुछ देखा है। बस, तुम्हारा राज्य-अभिषेक और देखना चाहती हूँ।’ कृष्ण को ज्ञात हुआ, वे भी आये। ‘भ्राता, तुम साधु बनना चाहते हो, अच्छी बात है जरूर बनना पर अभी वय छोटी है, बड़े हो जाओ, मैं नहीं रोकूँगा।’ अलग-अलग लोगों की कैसी अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ होती हैं। एक कहता है मैं नहीं दूंगा, तो वैरागी कहता है मैं लेकर रहूँगा। संसार का नियम है कि क्रिया के साथ प्रतिक्रिया होती हैं। कृष्ण कह रहे हैं—मैं चाहता हूँ साधु बनो पर अभी राज्य संचालन कर लो। गजसुकुमाल ने बहुत प्रार्थना की पर कृष्ण का आग्रह प्रबल था। गजसुकुमाल मौन रह गए। कृष्ण ने उन्हें राजा बना दिया। कृष्ण ने सोचा,

इससे इनकी वैराग्य भावना की परीक्षा भी हो जायेगी। पता चल जायेगी कि इनकी भावधारा राज्य-भोग के संयोग से लिप्त होती है या निर्लिप्त रहती है। ये कहीं राजा बनकर सत्ता के नशे में तो नहीं आते। यदि इनकी वैराग्य भावना दृढ़ होगी तो वह भी ज्ञात हो जायेगी। गजसुकुमाल सोच रहे थे कि कृष्ण से कह दूँ-

वैरागी हूँ, वैरागी को न धन चाहिये।

न राज चाहिये, एक नेम प्रभु की शरण चाहिये।

परन्तु आग्रह प्रबल था अतः राजा बन गए। राजा से पूछा गया-क्या आज्ञा है? आदेश हुआ-'नापित को बुलाओ, ओगे पात्रे मंगाकर, दीक्षा महोत्सव सम्पन्न करो और मुझे प्रभु चरणों में समर्पित करो।' सारी प्रक्रिया हो गई। दीक्षित होती ही तिलमिलाहट लग गई। भगवन् मैंने संयोगों को देख लिया अब इन्हें भावधारा से हटाना है। मैं पूर्णतः निर्विकार हो जाऊँ मुझे ऐसी आराधना, साधना, शोधन का सूत्र दे दो। आयोयणा तो फिर भी सरल है। उससे भी भावधारा का पूर्ण शोध न कठिन है। मेरी आत्मा अनादि संस्कारों से निर्बल बनी हुई है पर प्रभु, आपके चरणों का प्रसाद मिल गया है इसलिए आपका शिष्य कायरता नहीं दिखायेगा। सूत्र दिया गया-भिक्षु की बारहवीं-पडिमा। इससे भावधारा शुद्ध होगी। यदि सही आराधना की जाये तो अवधि, मनःपर्यव या केवलज्ञान की उपलब्धि। यदि आराधना सही नहीं, उफान आ गया अथवा मन का आलोड़न हो गया तो पागल हो जाये। ऐसी स्थिति में भावधारा छिन्न-भिन्न हो जाती है, मानसिक उत्ताल, तरंगें चहुँ ओर उठने से नियंत्रण टूट जाता है। परिणाम, दीर्घकाल तक रोगप्रस्त होने की स्थिति, सांसारिकता के बंधनों की विकारालता और उद्धार की आशा क्षीणतरा। गजसुकुमाल ने महाकाल शमशान में उस महा प्रतिमा को स्वीकार कर ली। अंगारे सिर पर धधकते रहे, परन्तु समभाव से गजसुकुमाल सहते रहे।

उन्होंने एक दिन के प्रयोग से ही, प्रभु-प्रदत्त सूत्र की आजमाइश कर ली। संयम का एक अनोखा उदाहरण आचार्य भगवन् ने भी सन् 1950 में दिल्ली चातुर्मास में प्रस्तुत किया। संग्रहणी के इलाज हेतु वैद्य आये। परामर्श दिया कि आपको केवल दही के मठे का सेवन करना है।

पानी की एक बूंद और अन्न भी नहीं लेना है। नौ माह तक औषधि दी गई। आचार्य भगवन् ने पूरी सावधानी से इलाज किया। सुबह दही ले आते और बाद में छोटी पात्री में दूध लाकर दही जमा देते। गुरुदेव ने नौ माह तक पानी की बूंद भी नहीं ली। सब्जी मंडी में चातुर्मास था, पंडितरत्न श्री सुदर्शनमुनिजी म.सा. साथ ही थे। नौ महीने की चिकित्सा के बाद वैद्य ने कहा-अपने जीवन में ऐसा रोगी व इलाज लेने वाला, सिर्फ आ ही मिले हैं। अपने-आप पर इतना अधिक नियंत्रण रखने वाला मुझे आज तक नहीं मिला था। आज तो हमें चाहिए एन्टीबायटिक दवाइयाँ, तत्काल परिणाम, क्योंकि धन की लगाम खींच रही है। पर यदि लगाम अपने हाथों में ले लें तो सूत्र उपयोगी हो जायेगा। गजमुनि ने मोक्ष मार्ग के विघातक उन तीन शल्यों का उद्धरण कर लिया। कीटाणु जल गए और ज्योति प्रकट हो गई। शल्य निकलते गये और पाँव मुस्तेदी से मुक्ति की ओर बढ़ते गये। कैवल्य प्राप्त कर लिया। निष्कर्ष यह निकलता है कि आलोयणा करके अर्थात् समस्त प्रकार से कीटाणु का निरीक्षण किया जाय, शल्य की शोध की जाय फिर कार्यान्विति की जाय।

भाव-शुद्धि होगी, तभी भावधारा निर्मल होगी और शोधन प्रक्रिया पूर्ण होगी। शोधन का सैद्धांतिक व प्रायोगिक स्वरूप जानना आवश्यक है। पर्युषण में इसी दिशा में प्रयास किये जाने चाहिये। कृष्ण ने अपने कर्तव्य-भाव का निर्वाह किया। पाप से लिप्त नहीं हुए। उत्तरदायित्व को निर्वहन करने का प्रसंग समझे पर लिप्त न बनें। हम भी भावना से संयोगों को हटाएं तो शोधन होगा। नये संयोग नहीं जुड़ेंगे, परन्तु पुराने संयोग हटाने के लिए प्रयत्नशील होना होगा। दुष्प्रवृत्तियों की आलोचणा करें कि मैंने कितने काषायिक भावों के सदा संबंध जोड़े हैं। प्रतिक्रमण करें। पर शोधन प्रक्रिया इतने से ही पूर्ण नहीं होगी, चित्तवृत्ति को निर्मल करना होगा। वह यदि नहीं की गई तो फिर संसार के खेल चलते रहेंगे। संवेग और निर्वद भाव जागें। आरंभ परिग्रह से बचें, पाँच महाव्रत स्वीकार कर शुद्ध साधु जीवन जीने का प्रयास करें तो फिर मंगलमय दिशा की ओर गति सुनिश्चित होगी।

सच्चे अणगार का स्वरूप

जो आत्माएं संयोग से मुक्त हो गई हैं उन्हें अणगार बनना होगा और जो अणगार बन गया है उसे भिक्षु बनना होगा। साधु, मुनि, संयति, संवृत, अणगार, भिक्षु, श्रमण-ये लगभग पर्यायवाची नाम हैं। भिक्षु से भी साधु का बोध होता है और साधु तथा मुनि से भी। प्रश्न यह है कि जब एक ही अर्थ को प्रकट करने वाले ये एकार्थक शब्द हैं तो एकार्थक दो पदों का इस गाथा में प्रयोग क्यों किया गया-

अणगारस्स भिक्षुणो

अणगार कहने से ही बात आ गई तो उसके साथ ही, भिक्षु के विनय को कहूँगा, यह बात क्यों कही गई? गणधर निरर्थक वचनों का या निरर्थक-पद विन्यास करें यह संभव नहीं है। इस पद पर चिन्तन करने से एक बात स्पष्ट होती है कि जो अणगार बनता है उसे भिक्षुक बनना होगा। भिक्षुक नहीं बना तो अणगार भी नहीं बन सकेगा। घर नहीं होने से ही अणगार नहीं है इसलिए भिक्षुक पद का न्यास किया गया है क्योंकि अणगार होने के पश्चात् कोई भी पदार्थ उसके स्वामित्व में नहीं रहता है। लेकिन वह शरीर के साथ रह रहा है तो शरीर निर्वाह के लिए आवश्यक साधनों की अपेक्षा को नकारा नहीं जा सकता। अन्न, वस्त्र, जल की अपेक्षा रहती है। प्रभु ने कहा है-‘सत्त्वं से जाइयं होइ, णत्थि किंचि अजाइयं’। साधक तुमने घर त्याग दिया है अतः ऐसा सोचकर घबराओ मत कि अब निर्वाह कैसे होगा? भिक्षा से तुम

आजीविका चलाना। बड़ा कठोर ब्रत है। कहा गया है—‘मांगण वाला मर गया, जो कोई मांगण जाय’। मांगने वाला मर-मरकर भी मांग रहा है तो क्या वह भूत हो गया? भूत नहीं हुआ है। इसमें गहरा चिन्तन है कि भगवान् ने साधक को मरना सिखाया है कि तुम मरो। यह तो उल्टा गणित हो गया! एक और तो कहते हैं कि ‘सब्बे-जीवावि इच्छिति जीविडं न मरिज्जिडं’ अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता और प्रभु कहते हैं—मरना सीखो, मरो। यह उल्टा गणित नहीं है, इसमें गहरा अर्थ है। अब तक तो व्यक्ति बहुत बार मरा, पर शरीर से मरा। आशा, तृष्णा नहीं मरीं इसलिए प्रभु मरण सिखाते हैं। मरना सीख गया तो जीवन-कला सीख लेगा। मरने का ज्ञान नहीं तब तक जीवन अधूरा है। इसलिए प्रभु ने कहा है—मरना सीखो। क्यों सीखो? मांगना बहुत कठिन काम है, हर व्यक्ति हाथ नहीं पसार सकता। पर साधु बनने के बाद हाथ पसारना होगा, उदरपूर्ति के लिये। यह नहीं कि अणगार बन गया, साथ में गाड़ा भर लिया, टिफिन आ गया, जब चाहे जहाँ चाहे आहार कर लिया फिर आगे चलना प्रारम्भ कर दिया। पुद्गलों के प्रति पूर्ण त्याग-भाव होने पर ही अणगार बना है। जब वह अणगार है तो उसे भिक्षावृत्ति अपनानी होगी। ऐसा क्यों कहा गया? एक स्थान पर बैठकर भी भोजन किया जा सकता था। बहुत से भक्त आमंत्रित करेंगे—‘भगवन् आज मेरे घर पधारें। यहाँ खुशी से बैठकर भोजन करें।’ पर ऐसे भोजन के पीछे हिंसा आश्रव जुड़ेगा और अनेक संयोग उसके पीछे लग जायेंगे। फिर साधु को सोचना पड़ेगा कि आज कौन बुलाएगा; और भक्तों में भी होड़ लग जायेगी कि अमुक ने महाराज को ऐसा भोजन कराया तो मैं उससे बढ़िया भोजन कराऊँ। इस प्रकार आरंभ प्रवृत्ति जुड़ जायेगी।

निकला था घर से संयोग छोड़कर पर इस प्रकार तो संयोग जुड़ते चले जायेंगे, अणगार-वृत्ति सुरक्षित नहीं रह पायेगी। इसीलिए भिक्षु ने कहा है कि भिक्षावृत्ति स्वीकार कर। जहाँ वह भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करेगा, उसका सबसे पहला प्रभाव होगा अहंकार पर चोट। अरे मैं इतने बड़े घर से निकला हुआ हूँ और भिक्षा के लिए जाऊँ? इसलिए प्रभु ने कहा-भिक्षा के लिए जा और नहीं जाता तो कर ले तपस्या। एक दिन,

दो, तीन, चार और मास-खमण, दो मास खमण। आखिर अहं द्वुकेगा और उदरपूर्ति के लिये आहार लाना होगा। भिक्षा के लिए जायेगा, अहं पर चोट होगी तभी अणगार वृत्ति सुरक्षित रह पायेगी, तभी वह यथार्थ में भिक्षुक होगा। एक उदाहरण लें। शांत-क्रान्ति के अग्रदूत आचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. थली प्रदेश में भिक्षा के लिए गये, वहाँ भाई और बहनें मना कर देतीं। एक बार वहाँ के जैनों (?) ने आचार्यश्री के पात्र में कुते के पिल्ले डाल दिये। आचार्यश्री ने कहा-वैसे ये हमारे काम के नहीं हैं पर आज मुझे प्रसन्नता है कि तुमने कुछ देना प्रारम्भ किया, कुछ देना सीखा। उन्हें कुछ ऐसे ही संस्कार मिले हुए थे कि 'अमुक पथ के साधुओं के अलावा शेष जो भी हैं वे वेशधारी हैं।' प्रभु महावीर को सभी स्थितियों का ज्ञान था। वे जानते थे कि भिक्षा पाने में साधुओं के सम्मुख समस्याएँ आयेंगी इसलिये उन्होंने अणगार को भिक्षा देने के लिए श्रावकों को भी कुछ संकेत दिये हैं। अतिथि संविभाग व्रत यह नहीं कह रहा है कि साधु को ही देना, पर साधु चूंकि तिथि नहीं बांधता और जिन चौदह प्रकार की 'प्रासुक एषणीय' वस्तुओं का कथन किया है और वे साधु जीवन से संबंधित हैं इसलिए बारहवां व्रत निपजता है संतों को दान देने से। पर यह नहीं कि संतों को ही दान देकर इस व्रत की आराधना की जाती है। संत आपके घर कब आएंगे? तुंगिया नगरी के श्रावकों के लिए कहा गया है कि उनके द्वार दान के लिए सदा उन्मुक्त रहते थे। यदि राजहंस को बुलाना है तो अन्य पक्षियों को दाना डालना पड़ता है ताकि कभी घूमता हुआ राजहंस भी आ जाये।

एक कथानक है कि एक राजा के हाथ में जहरीला फोड़ा (मोती छाला) हो गया। वैद्य ने बताया कि यदि उस पर राजहंस चोंच मार दे तो फोड़ा ठीक हो सकता है। पर समस्या हुई कि राजहंस को कैसे बुलाया जाय? मंत्री ने कहा-राजन् कुछ मेहनत तो करनी ही होगी। दूसरे पक्षियों को भी चुग्गा डालना होगा, ताकि कभी राजहंस भी आ जाये। राजहंस सिर्फ मोती ही चुगता है। छत बनाई गई और उसमें एक जगह छिद्र रखा गया ताकि उसमें वह फोड़ा भली प्रकार से रखा जा सके। छत पर पक्षी दाना चुगने के लिए आने लगे। संयोग से एक दिन

भूला-भटका एक राजहंस भी पहुँच गया। मंत्री ने कहा-राजन्! तैयार हो जाइये। हाथ के फोड़े को उस छिद्र में स्थापित कर दिया गया। हाथ या व्यक्ति ऊपर दिखाई नहीं दे रहा था अतः पक्षियों के भयभीत होने की कोई संभावना नहीं रही थी। राजहंस असली मोती चुगता हुआ आया और उस जहरीले फोड़े की नोक को भी मोती समझकर उस पर चोंच मार दी। जहर बाहर आ गया, छाला ठीक हो गया।

मैं आपको तुर्गिया नगरी के श्रावकों की बात बता चुका हूँ कि वे अपने घर के द्वार उन्मुक्त रखते थे। दस प्रकार के दान बताये गये हैं उनमें एक अनुकम्पा दान भी है, उसके लिए निषेध नहीं किया गया है। यदि अनुकम्पा का स्रोत सूख जायेगा तो सम्यक्त्व की भावना कैसे सुरक्षित रहेगी? घर के द्वार सभी के लिए खुले रहेंगे तो कभी संत भी आ जायेंगे। भिक्षा के लिए निकले हुए संत के लिए प्रभु ने संकेत दिया है-वह केवल उन्हीं घरों में न जाये जिन घरों में अनेक साधन हैं, मिर्च-मसाले युक्त पदार्थ हैं। यह न सोचे कि अनेक व्यंजनों व रसों के आस्वाद से इन्द्रिय-पोषण होगा, इन्द्रिय-पोषण से मन आगे से आगे बढ़ता जायेगा। उस पर चोट करने के लिये वैसी साधना जरूरी है। वह ‘सामुदानिक’ भिक्षा करें। यह नहीं कि अमुक-अमुक घर में ही जाय, अन्य में नहीं। ‘सामुदानिक’ भिक्षा अर्थात् जिन चौकों में मांस नहीं बनता, जो अप्रीतिकारी कुल न हों तथा जिनका आचार-व्यवहार शुद्ध हो ऐसे उच्च-नीच सभी घरों से साधक समान भाव से आहार ग्रहण करें। जिन घरों का या बहनों का आचरण शुद्ध नहीं हो ऐसे दुगुच्छ कुलों में साधु न जाये। साधक परिभ्रमण कर शुद्ध आहार ही उपलब्ध करें। गणधर गौतम भिक्षार्थ जाने से पूर्व प्रभु के चरणों में वंदन-नमस्कार करते और कहते इच्छमिणं भंते? तुष्मेहिं अब्धणुण्णाए समाणे...अर्थात् आपकी आज्ञा हो तो मैं भिक्षा के लिए परिभ्रमण करना चाहता हूँ और फिर वे ऊँच-नीच, मध्यम कुलों में समान भाव से भ्रमण करते, मन में किसी भी प्रकार की उद्विग्नता नहीं रखते। दशवैकालिक सूत्र में कहा है-‘अव्वक्रिखत्तेण चेयसा’-यदि चित्त विक्षिप्त है तो वह यथार्थ में भिक्षावृत्ति नहीं है, चित्त की निर्मलता तथा एकाग्रता एक आलम्बन पर

स्थिर करने से ही होगी। विक्षिप्तता से चित्त अनेक वृत्तियों को प्रादुर्भूत करेगा, अनेक संतानों को पैदा करेगा। ये वृत्तियाँ न पनपें इसलिए एक लक्ष्य बनें। वृत्तियों के जाल को समाप्त करने के लिए 'वृत्ति-संक्षेप' की बात कही गई है। 'वृत्ति-संक्षेप' अर्थात् भिन्न-भिन्न दिशाओं में दौड़ती वृत्तियों को संक्षिप्त करना। वह होता है भोजन के आधार पर। भोजन सही नहीं तो मन उड़ान भरता रहेगा, नई-नई वृत्तियाँ पनपेंगी। ऐसी स्थिति न बने, इसलिए 'वृत्ति-संक्षेप' की आवश्यकता है। अपनी आवश्यकताओं को संक्षिप्त करें। उनका फैलाव नहीं करें। व्यक्ति चाहता है कि वह सारा का सारा बुद्धि से ग्रहण कर ले, पर एक बुद्धि पर इतना भार क्यों डाला जाए? भूख पेट की होती है उसे बुद्धि से क्यों जोड़ा जाय। बुद्धि बेचारी कट कर रह जाती है। सभी के अलग-अलग कार्य होते हैं। जिसके जिम्मे जो कार्य है वह उसे पूर्ण करे। एक पर ही सारा भार नहीं डालना चाहिए अन्यथा वह सफल नहीं होगा। बुद्धि आगे से आगे भागती है। भूख पेट की होती है पर व्यक्ति पेट से जोड़ देता है-भूख नहीं है, पर बुद्धि यह समझती है और ग्रहण करने की स्थिति बन जाती है। इसलिए 'वृत्ति-संक्षेप' की जरूरत है। जब इस प्रकार की अवस्था आ जाती है तब अणगार का जीवन व्यवस्थित हो जाता है। संयोग से मुक्त ऐसा अणगार भिक्षावृत्ति से अपना जीवन-यापन करता है।

भिक्षाचर्या को 'गोचरी' भी कहा गया है। गोचरी गउ+चरी। गधा घास को समूल उखाड़ देता है जबकि गाय ऊपर-ऊपर से चरती है, जड़ सही सलामत बनी रहने देती है। दूसरी उपमा भँवरे की भी दी गई है कि भँवरा अनेक फूलों से थोड़ा-थोड़ा पराग ले लेता है-फूल भी नहीं कुम्हलाता, खिला रहता है, और वह अपनी आत्मा को तृप्त भी कर लेता है। इसी प्रकार अणगार भी जब सभी घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेता है तब किसी एक पर भार-भूत नहीं होता। यदि एक ही घर से लेगा तो निश्चित आरम्भ-समारम्भ होगा और उसका पाप भी उसे लगेगा। तब आश्रव द्वारा संयोग जुड़ जायेगा।

बहुत-से व्यक्ति जोश में आकर साधु तो बन जाते हैं पर 'वृत्ति-संक्षेप' नहीं कर पाते। वृत्तियों का प्रसार कर लेते हैं, रसना-पोषण

में लग जाते हैं और इस आशा से भ्रमण करते हैं कि वहाँ रसों का योग मिलेगा। ऐसी भिक्षावृत्ति वस्तुतः भिक्षावृत्ति नहीं, रस-लोलुपता है। ऐसे व्यक्ति अणगार नहीं हैं, भिक्षुक नहीं हैं। भिक्षुक तो वही है जो समान भाव से सभी घरों से चाहे रुखा-सूखा ही मिले, पाकर मस्त हो जाता है। उसका तो आदर्श होता है-

साधु तो मगन भये, हरि गुण गाय के।
हरि गुण गाय के प्रभु का गुण गाय के॥
कोई खाने लाडु पेड़ा जलेबी मंगाय के।
साधु खावे लुखा सुखा भोग लगाय के॥साधु....॥

शरीर रत्नत्रय की आराधना का साधन है इसलिए इसे थोड़ा-थोड़ा भोजन देना होगा ताकि साधना का भाव भी चलता रहे। इसे टिकाने के लिए भाड़ा देना होगा। इस प्रकार अणगार का स्वरूप व्यक्त करते हुए भिक्षुक से कहा है कि वह स्वयं मरे, दूसरों को नहीं मारे। यह मरना शरीर से नहीं है, बल्कि कषायों को मारना है, इन्द्रियों-विषयों-वासनाओं को मारना है। इसी प्रकार पाँच प्रकार का मुण्डन बताया है कि इन्द्रियों का जो विषयों से लगाव है उसका पोषण मत कर, तुझे विजित-इन्द्रिय बनना है। इन्द्रियों की दौड़ को लगाम से वश में करना-यही 'वृत्ति-संक्षेप' है। इन्द्रियों को विषयों से मोड़ देना ही मरण होगा। मरण होगा अहं का, विषय-वासना का और तभी चेतना का स्वरूप उजागर होगा। जब तक भीतर का स्वरूप अनावृत नहीं होगा, संयोग बना रहेगा और जिसमें संयोग भाव बना रहेगा वह साधु नहीं है। साधु संयोग के जंजालों में उलझा तो चेतना आवृत होगी, वह अधोगामी हो जायेगा। साधु बनने के बाद भी उत्पथगामी रह जायेगा और आत्मोत्कर्ष नहीं कर पायेगा। उत्कर्ष को अपनाना है तो प्रभु के निर्देशानुरूप मरण को अपनाओ। ऐसा करने पर ही वह भिक्षु शांत-प्रशांत ऊर्ध्वमुखी बनेगा।

सन् 1981 की घटना है। आचार्यश्री नानेश का चातुर्मास उदयपुर था। बाबू सरजुगसिंहजी, जो एक तांत्रिक थे, आचार्य भगवन् के दर्शनार्थ आये। साथ में श्री हिमतसिंहजी भी आए थे। उन्होंने वहाँ बैठे-बैठे कहा-'अरे हिमत! यो संत तो राख थई गयू छो।' बाद में समझ

में आया कि वे कह रहे थे कि आचार्य भगवन् में आसक्ति लेश मात्र भी नहीं रही है, विषय, वासना, कषाय सभी नष्ट होकर राख बन चुके हैं। इन्द्रियों के दौड़ाये नहीं दौड़ते। शांत हो गये हैं। पास बैठे हम संतों के लिए कहा—‘ये अभी अंगारे हैं।’ अंगारे अर्थात् धधकने वाले। अभी इनके दुर्गुण शांत नहीं हुए हैं। अभी ये आसक्ति, लगाव से जुड़े हुए हैं। हम जानते हैं कि व्यग्रता है तो उत्तेजना बनी रहेगी। ऐसी स्थिति में वह भिक्षु या अणगार नहीं रह पायेगा। जो एकाग्र बनेगा, वृत्तियों को संक्षिप्त करेगा, वह ऊर्ध्वमुखी होगा, राख बनकर चतुर्दिक प्रसृत होगा। इस प्रकार साधना-आराधना और धर्मप्रज्ञप्ति से अणगार-भिक्षु ऊर्ध्वारोहण करेगा।

भाद्रपद शुक्ला 9

21-9-96

20

विनय : धर्म का प्रवेश द्वार

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर की वाणी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सघन आध्यात्मिकता और व्यापक लौकिकता का गहन परन्तु सहज समन्वय उपलब्ध होता है। यह समन्वय मनुष्य को अपनी कार्यप्रणाली एवं चिन्तन को निर्देशित एवं नियोजित करने की दृष्टि प्रदान करता है। इस रूप में चेतना की बात करते हुए प्रभु ने उसके जिन दो विभागों की चर्चा की है वे व्यावहारिक ही नहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी स्वीकृत हैं। ये विभाग हैं—(1) आवृत चेतना और (2) अनावृत चेतना। चेतना का वह भाग आवृत चेतना कहलाता है जो ढका हुआ अथवा प्रच्छन्न होता है। इसी प्रकार अनावृत विभाग वह है जो प्रकट अथवा व्यक्त होता है। आवृत और अनावृत विभागों की बात किसी विशिष्ट चेतना की नहीं, सम्पूर्ण चेतना की है। ऐसा नहीं होता कि एक चेतना का एक भाग अनावृत हो और एक आवृत रह जाय। कर्म बंधन की प्रक्रिया भी इनके साथ जुड़ी होती है। आत्मा के प्रदेशों के साथ ‘कार्मण वर्गणा’ का जो संयोग होता है उसे ही ‘बंध’ शब्द से परिभाषित किया गया है। इस संयोग से मुक्त होना आत्मा का लक्ष्य होना चाहिये। कहा भी गया है—‘संयोग विष्पमुक्कस्स।’ संयोग से मुक्त होने के लिये ही हमारी साधना होनी चाहिये। पर आज व्यक्ति संयोग को जोड़ता जा रहा है। वह ऊपर से तो चाह करता है कि शारीरि प्राप्त करूँ, सुख प्राप्त करूँ पर रहता है तनावग्रस्त, टेन्शन से घिरा। इसका क्या कारण है? कारण है—चाहत में ईमानदारी की कमी। एक चाह तो ऊपरी स्तर से

होती है और एक भीतर की गहराई से। आज जो सुख या शार्ति की कामना है वह ऊपरी है, अंतर में तो संयोग की गहरी जड़ें जमी हुई हैं और उनका सिंचन भी जारी है। बबूल बोने पर आम्रफल प्राप्त नहीं हो सकते। जिस वृक्ष को सींचा जा रहा है। उसके अनुरूप ही फल मिलेंगे। आज की जो स्थितियाँ हैं, चाहत में जो गहराई नहीं है उसमें तो टेशन और द्वन्द्व ही प्राप्त होगा। यथार्थ सुख की चाहत है तो गवेषणा अथवा खोज करनी होगी। पर जब तक गहराई में नहीं पहुँचेंगे तब तक दुःख-द्वन्द्व के कीटाणु पनपते रहेंगे। जब तक इन्हें पूर्णतः नष्ट नहीं करेंगे तब तक सुख-शार्ति का अनुभव नहीं हो सकेगा।

‘संयोग विष्पमुक्कस्स’ गाथा की सम्यक् एवं विस्तृत विवेचना आवश्यक है क्योंकि इसे समझे बिना जीव-जगत के सारे खेल से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। यदि संयोग आत्मा की भावधारा से अलग हो जाएं तो हमारी चेतना अनावृत हो जायेगी, फिर उसके मुक्ति के प्रयासों में कोई बाधा नहीं रह जायेगी। अभी हमारी चेतना प्रच्छन्न है, शरीर के भीतर छिपी हुई है, हम उसके दर्शन नहीं कर पा रहे हैं। हम केवल लेबल या आवरण को देख रहे हैं, माल को नहीं। माल देखने की क्षमता भी नहीं है। डॉक्टर एक्सरे से हड्डियों का फोटो ले सकता है, सोनोग्राफी से भीतर के चित्र ले सकता है, पर ये सारी प्रक्रियाएँ शरीर के साथ ही हैं जिनके द्वारा इस शरीर की गति को देखना, सुनना हो रहा है। शरीर से भिन्न जो तत्त्व हैं तथा जिनका प्रतीक अथवा पहिचान यह शरीर है, उसे हम नहीं देख पा रहे हैं। उसे केवल अनुभूतियों से जान रहे हैं। हम इतना जानते हैं कि यदि वह तत्त्व न रहे तो फिर शरीर गति नहीं करेगा, नींद भी नहीं ले पायेगा और लेगा तो ऐसी नींद लेगा कि फिर कभी जग नहीं पायेगा। यदि व्यक्ति के भीतर का हंस उड़ जाये, चेतना प्रस्थित हो जाये तो फिर परिवार वाले भले रोते रहें, पर बाबू साहब या माताजी, कोई सुनेगा नहीं क्योंकि सुनने वाला तो है ही नहीं, वह तो चला गया। पर वह सुनने या देखने वाला है कौन, उसे किसी ने कभी देखा है? कितनी अनोखी बात है कि हम जिसे जान रहे हैं वह शरीर देखने वाला नहीं है, देखने वाला भिन्न है। जो देखने

वाला है, उसे हमने भुला दिया है और इस कारण स्वयं मानसिक-मनोवैज्ञानिक बोझ से दबे हुए हैं।

हम दुनिया को देखते हैं कि क्या हो रहा है। टी.वी. के विविध कार्यक्रम देखते हैं, समाचारों से जानते हैं कि दुनिया में कहाँ-कहाँ क्या-क्या हो रहा है, पर स्वयं के भीतर के बारे में कुछ नहीं जानते। हम बाहर ही बाहर देख रहे हैं, भीतर नहीं क्योंकि आँख का द्वार बाहर ही है। जिस दिन भीतर देख लेंगे उस दिन अलग ही घटना घटित हो जायेगी। फिर बाहर की ओर ध्यान ही नहीं जायेगा। जिसने एक बार अंदर की छवि देख ली, वह फिर बाहर क्या देखेगा? लेकिन हमने अंदर देखा ही नहीं है। यह कहना भी गलत है कि कोई धर्म से दूर है। धर्म है किस चिड़िया का नाम? हमने क्या धर्म का ठेका ले रखा है? धर्म हमारे-तुम्हारे कहने में नहीं है। धर्म आत्मा में होता है। वह प्रत्येक आत्मा में है। किसी को भी धर्म रहित नहीं कहा जा सकता। सिर्फ आवश्यकता है उसे प्रकट करने की। जिसके भीतर प्रकट हो गया, व्यक्त हो गया उसे हम धर्मी कहते हैं। जो प्रकट नहीं कर पाया है मोह मिथ्यात्व के अंधकार में है, वह धर्म को नहीं पहचानता। धर्म उसमें प्रकट नहीं हो पाया। सबके भीतर वह ज्योति है परन्तु छुपी हुई है, प्रकट नहीं है। स्थिति यह है कि आँखें खुली तो हैं पर हम सोये हुए हैं। प्रभु महावीर कह रहे हैं—ज्योति प्रकट करनी है तो अपने-आपको संयोगों से मुक्त कर लो।

संयोगों की मुक्ति से ही विनय की बात जुड़ती है। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन ‘विजय सूत्रम्’ की प्रथम गाथा में ही भगवान् ने विनय की महिमा का प्रतिपादन कर दिया है। उनका वचन है—

संजोगा विज्यमुक्कस्स अण्णगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥

अर्थात् जो सांसारिक संयोगों से विप्रमुक्त है, अनगार है तथा भिक्षु है उसके विनय अर्थात् अनुशासन एवं आचार का, मैं क्रमशः प्रतिपादन करूँगा, मुझसे सुनो।

तब क्या यह मान लें कि जो संयोगों से मुक्त है उसी की

विनय की महिमा है। जब तक आत्मा संयोग से लिप्त रहेगी, विनय क्या है, नहीं जान पायेगी। हम सोच लेते हैं गुरु पधारे, हम खड़े हो गये, नमन कर लिया, विनय हो गया। पर विनय का स्वरूप समझने के लिये गहराई में जाना होगा। विनय कोई मामूली चीज नहीं है। वह धर्म का प्रवेश द्वार है। धर्म वृक्ष का फल मोक्ष है तो उसकी मूल अथवा जड़ विनय है। धर्म यदि मकान है तो विनय उसकी नींव है। धर्म यदि तिजोरी है तो विनय उसके ताले की कुंजी है। विनय के बिना धर्म में प्रवेश नहीं हो सकता। धर्म क्या है? 'स्व' स्वरूप को प्राप्त करना और उसका माध्यम है 'विनय'। आज तक हमने विनय का स्वरूप समझा नहीं है। हमने सिर्फ नम जाने को या विनम्र बन जाने को ही विनय समझा है। अतः यह आवश्यक है कि हम विनय के सही स्वरूप को समझें। विनय शब्द वि+नय है। वि उपसर्ग का अर्थ विलय, विगत व विशेष ऐसे कई अर्थ होते हैं। यहाँ विलय या विगत अर्थ लिया जाय जिसका तात्पर्य होगा कि जिसके सारे विचार प्रवाह विलय हो गए। तिरोहित हो गए। एक मात्र गुरु की आज्ञा व निर्देश ही जिसके लिए सर्वोपरि है। ऐसा विनय धर्म के द्वार को उद्घाटित करने वाला होता है। जब धर्म के द्वार खुल जाएँगे तब उसमें विशेष प्रक्रिया घटित होगी तब वह बूँद के सागर को देख पाएगा। सर्क्षिप्त को विस्तार से जान पाएगा। इस स्थिति में विनय का अर्थ होगा वि+विशेष, विस्तृत नय+जानने का मार्ग। विचार प्रवाह जो विचार हमें एकान्तसुखरूपी मोक्ष की दिशा में बढ़ाने वाला होगा। वह मार्ग हमारे भीतर है और उसे प्रकट करने के लिए अपेक्षित होती है 'गुरु-कृपा'। उत्तराध्ययन सूत्र में आगे कहा गया है कि उसे पाने के लिए आज्ञा और निर्देश का पालन करा। गुरु के समीप रहने वाला बनेगा तभी वह प्रवाह विशेष रूप से प्रवाहित होगा जो धर्म तक पहुँचाने वाला होगा। यदि वह प्रवाहित नहीं होगा तो तेरा अंतर रोता ही रहेगा, उसे संतोष प्राप्त नहीं होगा। अतः हमारा परम कर्तव्य है कि हम गुरु की आज्ञा का पालन करें, अनुशासन में रहें और विनय का मार्ग कभी न छोड़ें। इस स्थान पर विनय के वास्तविक स्वरूप को भी समझ लेना आवश्यक है।

विनय के सामान्यतः तीन अर्थ लगाये जाते हैं-नम्रता, आचार और अनुशासन। परन्तु यदि विचार करें तो स्पष्ट होगा कि अनुशासन में प्रथम दोनों अर्थों का समावेश हो जाता है क्योंकि बिना नम्रता और सम्प्रकृत आचार के अनुशासन की स्थिति ही नहीं बनती। प्रस्तुत संदर्भ में विनय का अर्थ सदाचार और अनुशासन ही प्रमुख रूप से समझा जाना चाहिये। अनुशासन के भी दस सूत्र बताये गये हैं जो गुरु में निष्ठा का प्रमाण तो प्रस्तुत करते ही हैं, गुरु की कृपा का पात्र भी बनाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन में ‘विनय सूत्र’ के अंतर्गत भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ के विनय के सूत्रों की विस्तृत विवेचना की गई है। विनय मुक्ति का प्रथम चरण, धर्म का मूल तथा आभ्यंतर तप है। विनयरूपी मूल के बिना सम्पर्गदर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी पुष्प ही जब प्राप्त नहीं होते तब मोक्षफल की प्राप्ति की अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती। अनुशासन और विनय के बिना साधक ज्ञानादि में खोखला रह जाता है, उसके चरित्र की नींव सुदृढ़ नहीं होती। अनुशासन-विहीन शिष्य कालान्तर में उच्छृंखल एवं स्वच्छन्द हो जाता है। ऐसा अनुशासन-विहीन दुर्विनीत शिष्य दुष्ट बैल की तरह संघ रूपी शक्ट ओर उसके स्वामी संघाचार्य की भी हानि करता है। गुरु की अवहेलना से संघ, संघ की अवहेलना से समाज और समाज की अवहेलना से व्यक्ति अथवा श्रावक का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है। इस प्रकार यदि हम मूल से चलें तो सर्वप्रथम व्यक्ति अथवा श्रावक का विनयी होना अत्यावश्यक है क्योंकि तब वह अपनी वृत्ति के अनुसार संघ और गुरु की सेवा करता हुआ स्वयं का हित सुनिश्चित कर लेता है। दंभ, पाखण्ड और संयोग का त्याग करता हुआ ऐसा सुश्रावक संघ की शान और गुरु का गौरव बनता है।

कल्पना करें-एक घड़ा है जिस पर कटोरी का ढक्कन रखा है। ऊपर से वर्षा हो रही है, घड़ा झकलोते भी खाता है, पर मुँह तो ढक्कन से बंद है इसलिये वर्षा की एक भी बूँद का उसमें प्रवेश नहीं होगा। उसी प्रकार द्वार यदि उन्मुक्त नहीं है तो व्यक्ति का भीतर प्रवेश नहीं हो सकेगा। प्रभु के जब मोक्षगमन का समय निकट आ गया तब बिना किसी के पूछे उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र की वाचना दी। प्रभु ने अंतिम देशना देते हुए कहा-

संयोगा विष्पमुक्कस्स.....।

संयोग से मुक्त बनो। मुक्त बनने के लिए ही उन्होंने विनय को प्रस्तुत किया और कहा कि विनय से ही स्थिरता आने पर अंतर में धर्म का साम्राज्य स्थापित होगा। आज हम धर्म को ऊपर-ऊपर ढूँढ़ रहे हैं। क्रियाओं में ढूँढ़ रहे हैं। क्रियाएँ यद्यपि सहयोगी हैं पर कब? जब हमारे भीतर विनय भाव का सही रूप प्रकट होगा, वह नहीं जो आज प्रकट है। समवसरण में प्रभु विराज रहे हैं। नव मल्ली नव लच्छी राजा पौष्ठ ब्रत की आराधना के साथ प्रभु की अंतिम देशना सुन रहे हैं। प्रभु ने कहा—‘संयोगा विष्पमुक्कस्स’ और उसी के साथ गणधर गौतम से कहा कि देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने जाओ। विचार कीजिए-प्रभु के अंतिम क्षण हैं। गौतम, जो जिंदगी में अधिकांश साथ रहे थे, एक नहीं अनेक भव से जो साथ थे और ये थे वे क्षण, जिनके बाद प्रभु की आत्मा मोक्ष के लिए प्रयाण करने वाली थी, शरीर के कारागृह से मुक्त होने वाली थी, पक्षी उड़ जाने वाला था, ऐसे समय में प्रभु कह रहे हैं—‘गौतम! प्रतिबोध देने जाओ।’ क्या कोई दूसरा साधु नहीं था? क्या गौतम स्वमी यह नहीं कह सकते थे कि उसे तो मैं कल-परसों भी प्रतिबोध दे सकता हूँ। भगवान मेरी इतनी-सी विनय सुन लो, अभी मुझे अपने पास ही रहने दो। पर नहीं, वहाँ न कोई विनय थी, न कोई आग्रह, न कोई तर्क-वितर्क। कभी ऐसा भी होता है कि हम मुँह से न भी कहें कि गुरुदेव का आदेश है इसलिये मानना होगा पर मन में उतार-चढ़ाव, संकल्प-विकल्प आ ही जाते हैं। प्रभु महावीर ने जब कहा कि मैं उन महात्माओं को विनय स्वरूप कहूँगा तब पहले विनय के स्वरूप का जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोग किया गणधर गौतम से प्रस्थान हेतु कह कर और प्रयोग सौ प्रतिशत सही रहा। गौतम ने संकल्प-विकल्प नहीं किया, आदेश हुआ और वे ‘जो आज्ञा’ कह कर रवाना हो गये। यह है ‘विनय का स्वरूप’।

आज हम अपने अंतर को ट्योलें, देखें कि क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं? हम भी उपदेश में कह देते हैं, जैसे मैं भी कह रहा हूँ, और इसमें जोर नहीं लगता पर जब आचरण की स्थिति बनती है तब देखें

कि भीतर कहीं कोई भाव प्रकम्पित तो नहीं होता, तर्क-वितर्क तो नहीं उभरता, तभी जान सकते हैं कि विनय के क्षेत्र में चरण-न्यास हुआ या नहीं। कहना बहुत सरल है। परन्तु विनय पर व्यवहार करना उतना सरल नहीं है।

सेठ धनावह नगरश्रेष्ठ था। सेठ ही नहीं था पर अपनी सेठाई पर कायम भी था। सेठाई क्या? आज तो ढोंगी ज्यादा से ज्यादा प्रदर्शन करते हैं, पर प्रदर्शन-प्रिय नहीं थे। धरती पर चलने वाले थे। आज तो व्यक्ति थोड़ा-सा कुछ प्राप्त कर लेगा तो पाँव जमीन पर नहीं रखेगा। गाड़ी में यात्रा नहीं करेगा, आकाश में उड़ान भरेगा चाहे वह वाह-वाह के लिये ही हो। सेठ साहब के आगे-पीछे दस लोग घूमने वाले हों तो सेठ साहब धरातल पर पैर नहीं रखें, पर धरातल के बिना सेठाई टिकेगी भी नहीं। नींव मजबूत नहीं तो महल लड़खड़ा जायेगा। भूचाल आया कि महल गिरेगा। छत के नीचे व्यक्ति दब जाय तो फिर क्या दशा होगी? आज आवश्यकता है कि हम आकाश में न उड़े, पाताल में जाना छोड़ें, जो जमीन पर चल रहे हैं उनके साथ कदम मिलाएँ। युगद्रष्टा आचार्यश्री जवाहरमलजी म.सा. क्रांतिकारी संत थे, मेरा सौभाग्य नहीं था कि मैं दर्शन कर पाता, पर कई व्यक्ति, जिन्होंने दर्शन लाभ लिया है, बतलाते हैं कि उनमें इतनी प्रतिभा थी कि कोई सहसा उनके सामने बोल नहीं पाता था। कोई ऐसा क्षेत्र अछूता नहीं रहा जिस पर उनकी निगाह न पड़ी हो, चाहे वह सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्र हो, पिछड़ेपन अथवा व्यसन का क्षेत्र हो, सामने श्रावक हो या साधु, उन्होंने किसी को नहीं बख्तां। श्रावक जीवन यदि व्यवस्थित नहीं तो वे कहने से नहीं चूके। रतलाम का प्रसंग है, उनसे कहा गया कि नरेश व्याख्यान में आने वाले हैं, वे खादी के विरोधी हैं अतः आप खादी पर उपदेश मत देना। परन्तु वे अपनी आत्मा की आवाज ही सुनते थे। दूसरे के कथनानुसार नहीं चलते थे। अतः उन्होंने खादी का ही उपदेश दिया और नरेश खादी के हिमायती बन गये। उनके भीतर सम्प्रेषण हो गया। हम समझ लें कि बाहर या भीतर का कोई भी आग्रह लेकर या तनकर हम संयोग से मुक्त नहीं हो सकते। अतः आवश्यक है कि हम वास्तविक को समझें और यथार्थ का अन्वेषण करें।



सेठ धनावह सार्थवाह था। उसने गांव में ढिंढोरा पिटवा दिया कि मैं व्यापार के लिए जा रहा हूँ और जो-कोई चाहे वह साथ में चल सकता है। मार्ग का व्यय मैं वहन करूँगा। व्यापार के लिए अपेक्षित धन भी उपलब्ध कराऊँगा। यह ऐसा लाभदायक प्रस्ताव था अतः बहुत-से व्यक्ति भाग्य आजमाने के लिए साथ जाने को तैयार भी हो गये। सार्थ रखाना हुआ, मार्ग में बीहड़ जंगल था। सेठ तो बार-बार यात्रा करता रहता था। उसने सबको हिदायत दी-'आपकी सुरक्षा की जिम्मेवारी मुझ पर है पर मैं एक चेतावनी देता हूँ-इस जंगल में नंदी वृक्ष है जिसके फल सुहावने और मन को आकर्षित करने वाले हैं। थका व्यक्ति वृक्ष की छाया में विश्रांति की इच्छा करने लगता है, फल की सुगंध दूर से ही उसे आकृष्ट करती है। मन होता है तोड़कर खा लूँ पर वे फल जहरीले हैं इसलिए कोई भी वे फल न खाये क्योंकि खा लेने के बाद कोई बचा नहीं पायेगा। मेरे पीछे-पीछे चले आओ, छाँव में बैठना मत।' सेठ आगे-आगे चल रहा था। पीछे-पीछे बहुत-से व्यक्ति चल रहे थे। कई व्यक्तियों के मन में विचार आया कि सेठ ने हमें ज्ञांसा दिया है। सेठ तो आगे है, खुशबुदार फल खाये बिना रहा नहीं जायेगा। उन्होंने फल खा लिये। अहो! इतने मधुर फल, खाये बिना अनुभूति कैसे होती। थोड़े साथ में भी ले लें बाद में काम आयेंगे। दो मिनट सुस्ताने बैठे पर यह क्या? हमारी नसों में खिंचाव क्यों हो रहा है? थोड़ी देर में उनका सारा शरीर ऐंठने लगा। सेठ ने कहा था, पर हम विचलित हो गए। जिन्होंने फल खाये, वे अपनी आयु पूर्ण कर गये। प्रभु ने भी अपने संतों को एवं श्रावकों को संदेश दिया है-देवानुप्रिय! मैं जहाँ विनय की बात कर रहा हूँ और आप मानते हैं कि प्रभु चक्रवर्ती हैं, हमारे धर्म-रथ के सारथी हैं, तो इस रथ में इसके पहियों के चिन्हों पर चलने वाला परदर्शी बन जायेगा। अपनी मुक्ति की मंजिल को पा लेगा। बशर्ते नंदीफल का भोग नहीं करे। वे नंदीफल हैं-कषाय के और विषय-वासना के। यदि व्यक्ति इनमें उलझ गया, इन्हें अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया तो धर्म-रथ में आरूढ़ नहीं हो सकेगा। वह फिर मुक्तिपुरी कैसे प्राप्त करेगा? यह आख्यान जिस रूप में भी घटित हुआ हो, हम सुनते हैं, पर जीवन के साथ तौतले नहीं, जीवन का मूल्यांकन नहीं करते, तो फिर मात्र सुनने से कुछ नहीं होगा।

मेरे पास एक प्रस्ताव आया है कि मैं 'व्यसमुक्ति' पर कुछ बात रखूँ। मैं वही कह रहा हूँ। सार्थवाह की कथा के अनुसार जिन्होंने फल खाये वे जहरीले फल उनके लिये मृत्युदाता बने। आज उस प्रकार के जहरीले फल तो नहीं हैं किंतु व्यसन के जहरीले फल हैं तो मृत्यु के विषेले कीटाणु उत्पन्न करते हैं। हम देखें कि कहीं ये कीटाणु हम अपने भीतर तो नहीं उड़े रहे हैं? कहीं विषैली चीजें तो गले के नीचे नहीं उतार रहे हैं? अमेरिका में एक शोध हुई है। वहाँ के बारह प्रांतों के सत्रह कारागृहों के तेरह हजार चार सौ दो कैदी जब न्यायालय में लाये गये और सर्वेक्षण किया गया तो मालूम हुआ कि पचास प्रतिशत अपराध शराब पीने के कारण हुए थे। शराब पीने से मस्तिष्क और चिन्तन ही दुर्बल नहीं होता, जीवन भी असंयमित हो जाता है। उसी के कारण अपराध होते हैं। आज हम कहते हैं कि आतंकवाद बढ़ रहा है, अपराध बढ़ रहे हैं। आप चाहते तो सुख हैं पर तनाव और टेन्शन ही मिलता है। जब आप विष-वृक्ष की जड़ों का ही सिंचन कर रहे हैं तब निश्चित है कि वे पल्लवित-पुष्पित होंगी। जहरीले फल लगेंगे। हमारे भीतर शराब, व्यसन, अपराध, आतंक, तनाव ही फैलेंगे, सहिष्णुता का अभाव होगा। थोड़ी देर के लिए व्यक्ति सोचता है—मैं शराब पीकर तनाव रहित हो जाऊँगा पर नहीं, उसमें चिड़चिड़ापन और हताशा ही पैदा होगी।

एक घटना है। एक सेठ ने अपने इकलौते पुत्र का समारोहपूर्वक विवाह किया। मित्रों ने कहा टी-पार्टी का आयोजन होना चाहिए। ठीक है, टी-पार्टी सही। आपको हमारी तीन बातें माननी होंगी, दोस्तों का आग्रह था। उसने पूछा क्या बातें हैं? पहली यह कि तुम अपनी पत्नी की पिटाई करो, नहीं तो वह सिर चढ़ जायेगी, बात नहीं मानेगी। लड़के ने कहा—'नहीं, यह तो नहीं हो सकता। वह तो सदाचारिणी है, मैं उसकी पिटाई नहीं कर सकता।' 'अच्छा तो दूसरी बात यह है कि छुरी से अपने माता-पिता का मर्डर कर दो नहीं तो वे रोक-टोक करेंगे, मस्ती से जी नहीं सकेंगे।' पुत्र ने कहा—'मुझे ऐसी मस्ती नहीं चाहिये। मैं हरगिज यह काम नहीं कर सकता।' 'अच्छा दो बातें नहीं मानीं, तो एक माननी ही पड़ेगी। हमारे साथ टी-पार्टी में शराब पीना होगा।' उसने मंजूरी दे दी।

शराब का दौर चला। दोस्तों ने उसे छका कर शराब पिला दी, इतनी शराब पिला दी कि उसके सारे शरीर में सनसनी फैल गई। उसके हाथ में छुरी दे दी, होटल से बाहर निकले। वह अपने घर पहुँचा, द्वार खटखटाया, माँ ने द्वार खोला-'अरे! आज तू इतनी रात गये आया है? यह क्या, तेरे मुँह से तो बू आ रही है। छिः छिः तूने शराब पी है।' इतना सुनना था कि छुरी तो हाथ में थी ही, कर दिया माँ पर वार। लहूलुहान हो गई, एक चीख निकली और जमीन पर ढेर हो गई। चीख सुनकर पत्नी आई,'अरे पतिदेव, यह क्या?' छुरी हाथ से गिर गई। 'अरे! आपने शराब पी रखी है? सासूजी की हत्या कर दी! यह क्या किया? पास में ही कपड़ा धोने का डंडा पड़ा था। उठाया और शुरू कर दी पत्नी की पिटाई। प्रहार पड़ते ही पत्नी जोर से चिल्लाई। पास-पड़ौस के लोग इकट्ठे हुए और पकड़ कर उसे कमरे में बंद कर दिया। रात-भर वह कमरे में उलट-पुलट करता रहा। फर्नीचर तोड़े, पर्दे फाड़े इतना उत्पात मचाया कि थक गया। सुबह-सुबह थोड़ी नींद आई, नशा उतरा तो द्वार खुलवाया। यह क्या? पत्नी कहाँ गई? बाहर माँ का शव पड़ा था। यह छुरी! खून!! यह सब कैसे हुआ? पड़ोसियों ने बताया-यह तुम्हारी ही करतूत है और तुम्हारी पत्नी को हॉस्पिटल में भरती करवाया है। 'अरे कहीं दम न तोड़ दे!' पहुँचा अस्पताल में। वह अब ठीक थी। सोचिये, एक शराब कितनी बुराई की जड़ है। इसीलिये कहते हैं कि पहले तो आदमी शराब पीता है, फिर शराब शराब पीती है और फिर शराब आदमी को पी जाती है।

एक सुप्रसिद्ध न्यायाधीश ने बताया है कि उनके कोर्ट में जितने मुकदमे आते हैं उनमें से प्रत्येक दस मुकदमों में से नौ मुकदमे शराब से संबंधित होते हैं। निश्चित ही शराब सब अपराधों की जड़ है। धूम्रपान, चोरी, वेश्यागमन आदि कुव्यसन व्यक्ति को पागल बना देते हैं। तब व्यसनियों में विनय भी कहाँ रहेगा और वे धर्म में प्रविष्ट कैसे होंगे? एक सर्वे में बताया गया है कि गले, दाँत, हृदय, कैंसर आदि के रोग धूम्रपान से होते हैं। सोचें कि हम किधर जा रहे हैं? ऐसे व्यसनों का सेवन करने वाला क्या गुरु की धर्म-प्रज्ञाप्ति को स्वीकार कर पायेगा?

गुरु के, पिता के नाम को रोशन करना है तो इन दुर्व्यसनों से दूर ही रहो क्योंकि ये स्वयं छूटने वाले नहीं हैं। हमारा दायित्व है कि हम गुरु का नाम रोशन करें। प्रभु महावीर के श्रावक आनन्द और कामदेव ने प्रभु का नाम रोशन किया। प्रभु की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार किया। जब वे प्रभु के श्रावक नहीं बने थे तब उनका जीवन वैसा नहीं था। वे संयोग से जुड़े हुए थे। उनके गोकुल में चालीस हजार गौधन था। कितना दूध, दही होता था और आरंभ-सारंभ भी होता था! वह आनन्द एक-एक पैसा जोड़ता था पर जब प्रभु का शिष्य बन गया तो पैसा गौण हो गया, मुख्य नहीं रहा। मैं यह नहीं कहता कि तुम सब-कुछ त्याग दो। क्योंकि-

श्रावक के पास कौड़ी नहीं तो वह कौड़ी का।

साधु के पास कौड़ी है तो वह कौड़ी का॥

कौड़ी पैसे का प्रतीक है, मांगलिक वस्तु मानकर लोग उसे अपने पास रखते हैं, पर साधु के पास फूटी कौड़ी भी नहीं होनी चाहिए। आनन्द श्रावक नहीं बना तब तक लक्ष्य था अर्जन का और श्रावक बनने के बाद लक्ष्य हो गया विसर्जन का। चिन्तन की दिशा विपरीत हो गई, उसमें परिवर्तन हो गया, विचारों का रूपान्तरण हो गया। श्रावक का कर्तव्य है कि वह दिखावा न करे, पाखण्ड से बचे, सरल और विनीत बने। त्याग करे तो नाम के लिये न करे, उसका ढिंढोरा न पीटे। यदि त्याग अथवा उपकार किया परन्तु उसका ढिंढोरा पीट दिया तो फिर वह विसर्जन नहीं होगा, त्याग नहीं होगा, उपकार नहीं होगा, बल्कि सौदा होगा। प्रभु के विनय धर्म को सुनकर कर्म के महत्व को भी समझें। नशीले पदार्थों का त्याग करें। यह कसौटी है। यदि गुरु के हम सच्चे भक्त हैं तो प्रयास करें कि हमारा नाम, हमारी पहचान बने त्याग से। जीवन-व्यवहार में स्वधर्मी वात्सल्य आ जाये, हृदय का विस्तार हो, संकुचन नहीं। नाम चाहने से नाम नहीं होता, वह होता है कर्म से, कर्तव्यपालन से।

एक व्यक्ति ने सुना व्याख्यान में कि अमुक-अमुक के नाम अमर हो गये। उसने भी सोचा मैं अपना नाम अमर करूँ। उसने जमीन पर नाम अंकित किया-हवा आई, वर्षा से नाम मिट गया। दुःखी हो गया,

अब क्या करूँ? दीवार पर नाम खुदवा दिया। लिपाई-पुताई हुई, नाम भी पुत गया। संयोग से एक महात्मा पहुँचे भिक्षा के लिए। भाई उदास बैठा था। पूछा-क्या बात है? मैं नाम अमर करना चाहता हूँ। किन्तु दुनिया करने नहीं देती। मैंने जमीन पर, दीवार पर अंकित किया, पर मिट गया। अनेक तरीके अपनाए, पर सब विफल। महात्मा ने कहा-नाम अमर हो सकता है, पर यह मत सोचो कि मेरा नाम हो। बस, अपना कार्य करते जाओ। महात्मा ने विधि सिखा दी। अब वह त्यागमय जीवन बिताने लगा। सम्पत्ति धर्मार्थ अर्पित कर दी। नाम की चाह नहीं थी, पर वह चारों ओर फैलने लगा। चाहता था तब तक नहीं हुआ। आज प्रतिस्पर्धा होती है। पूरे गाँव में नाम फैल गया। बहनों को भी यदि नाम अमर करना है तो आज से ही प्रतिज्ञा कर लें कि हिंसा से उत्पादित सौन्दर्य-प्रसाधन सामग्री एवं रेशमी वस्त्रों का उपयोग नहीं करेंगी क्योंकि यह भी विनय का ही एक रूप है-पशु एवं प्राणिजगत् के जीवन की रक्षा तथा उसके प्रति सम्मान का भाव। इस प्रकार यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि जिस प्रकार मुझे अपना जीवन प्रिय है उसी प्रकार दूसरे को भी अपना जीवन प्रिय है और यदि मैं अपने जीवन की रक्षा का अधिकार रखता हूँ तो मुझे दूसरे के जीवन की रक्षा का अधिकार को भी स्वीकार करना चाहिये। यह व्यावहारिकता है। यह सच्चा ज्ञान है जिसके संबंध में कहा जाता है-‘विद्या ददाति विनय’ और जब यह ज्ञान या विद्या आती है तब व्यक्ति उसी प्रकार झुक जाता है जिस प्रकार फलों से लद जाने के बाद वृक्ष की शाखाएँ झुक जाती हैं। गहरी नदी तटों में बँध कर बहती है और भारी बर्तन जलदी गरम नहीं होता। वह तो थोथा चना ही होता है जिसके बारे में कहा जाता है ‘बाजे घणा’। इस विनय की शिक्षा का प्रारंभ माता-पिता के प्रति विनय से तो होता ही है, गुरु का सान्निध्य इसे पुष्ट कर जीवन का पाथेय बना देता है परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि पात्र भी विनयी और श्रद्धावान हो। हम जानते हैं कि जो गगरी झुकती है वही सरोवर के जल से अपने आप को भर पाती है। ‘आचारांग सूत्र’ के पंचम अध्ययन के पञ्चमोदेशक में गुरु को निर्मल जल से भरे हुए सरोवर की उपमा दी गई है। ऐसे ज्ञान के सरोवर

गुरु के प्रति अपने जीवन की गगरी को झुकाने वाला श्रावक या शिष्य ही उस ज्ञान से परिपूर्ण हो पाता है जो मुक्ति की दिशा में ले जा सकता है। गुरु की ऐसी ही महिमा को समझ कर उसके प्रति विनय भाव प्रकट करते हुए कवि बिहारी ने कहा था-

**गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोबिन्द दियो बताय॥**

तब यह समझ लें कि विनय-मार्ग पर प्रगति गुरु के प्रति श्रद्धा और गुरु-कृपा से ही प्रारंभ होती है। अतः विनय के उस उद्गम के प्रति हम मन, वचन और कर्म से समर्पित रहें जिससे उस मार्ग का अनुसंधान करने में सफलता मिले, जो मोक्ष की दिशा में ले जाता है।

भाद्रपद शुक्ला 10

22-9-96

महाभयों से मुक्ति का मार्ग

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख-सम्पत्तिनो हेतु, ललना।
शांत सुधारस जलनिधि, भवसागरमां सेतु, ललना॥

प्रार्थना की ये पंक्तियाँ अत्यंत अर्थपूर्ण हैं। यदि इनमें निहित भावों को व्यक्ति अपने जीवन में उतार ले तो वह त्रिविधि तापों से ही नहीं, सभी 'भव भयों' से भी मुक्त हो जाय क्योंकि प्रभु इन भयों को निकट आने ही नहीं देते, निर्भय बनाये रखते हैं, पर हम हैं कि भयों से सतत आक्रांत रहते हैं, उनसे मुक्ति के मार्ग को ही भूल बैठे हैं। तब विचारों कि भय हमारे भीतर क्यों आता है।

संभवनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए भय के संबंध में कहा गया है—जहाँ परिणामों की चंचलता है वहीं भय है। भय मोहनीय कर्म का भेद है। चंचलता भी मोह के आधार पर होती है। यदि मोह का सर्वथा उपशम या क्षय हो जाय तो उस समय चित्त चंचल नहीं होगा। ग्यारहवें एवं बारहवें गुण स्थान में मोहनीय कर्म का उदय नहीं है, उपशम या क्षय हो गया है। इसलिए ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में चित्त की चंचलता नहीं है। यथाख्यात अर्थात् आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप प्राप्त कर उसमें अवस्थित हो जाना। वहाँ फिर हिलोरें या तरंगें आती हैं उनका मुख्य कारण मोहनीय कर्म हैं। मोहनीय इस प्रकार कि कुछ छूटने अथवा किसी हानि की आशंका होती है अथवा भय होता है। छूटने और हानि का एहसास तभी होता है जब किसी वस्तु या व्यक्ति

से जुड़ाव हो या उससे प्राप्त होने वाले लाभ में रूचि हो। जुड़ाव और लाभ का भाव लगाव, आसक्ति अथवा संयोग के परिणाम के रूप में ही प्रकट होता है। यदि हमें कोई अपेक्षाएँ ही न हों तो प्राप्त न होने का दुःख भी नहीं होगा—‘जिनको कछू न चाहिये, ते साहन के साह’ यदि लगाव न हो तो हानि का भय भी न हो। लोभ और लाभ से आकर्षण अथवा संयोग भाव बढ़ता जाता है, व्यक्ति और अधिक की कामना करने लगता है—‘ज्यों प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।’ जितना अधिक लाभ उतना अधिक उसका मोह और उतना ही अधिक उसके चले जाने का भय। इस प्रकार परिग्रह भाव लोभ को पुष्ट करता है इसीलिये उसे पंचरत्नों में एक रत्न माना गया है। अलमस्त अकिञ्चन को न पाने का हर्ष होता है, न जाने का गम अर्थात् उसे भय नहीं सताता। भयों में भी सात प्रमुख भय हैं जिन्हें ‘महाभय’ कहा जाता है। इनकी प्रकृति और स्वरूप पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

प्रथम महाभय है ‘इद लोक का भय’। इस भय के अनेक रूप हैं जैसे विद्यार्थी को परीक्षा का भय रहता है—‘काँपती है रुह मेरी, बस सदा इम्तिहान से।’ केवल एक भय-कहीं फेल न हो जाऊँ, उसे चौबीसों घण्टे आक्रान्त किये रहता है। वैसे परीक्षा का भय तो प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी को भी रहता है। परीक्षा से तो संत, मुनि, सज्जन सभा भयभीत रहते हैं। बाइबिल में कहा गया है—‘हे प्रभु, मुझे परीक्षा से बचाना!’ अन्य भयों की महिमा भी कम नहीं है। व्यापारी को सदा हानि का भय सताता रहता है। कन्या बड़ी हो गई तो अभिभावकों को उसके विवाह की चिन्ता होती है, साथ ही यह भय भी कि कहीं ऐसा घर-वर ना मिल जाये जहाँ वह दुःख पाये।

एक युग कन्या के लिए स्वर्णिम युग था। आज वर को खोजना पड़ता है, उस युग में आवश्यकता होती तो कन्या की खोज करनी पड़ती थी। पूर्व के युग में यदि किसी के घर कन्या का जन्म होता था तो सोचते थे कि हमारे घर लक्ष्मी आ गई। आज युग ने करवट ली है। अब वह दिन दूर नहीं जब कन्या की खोज एक समस्या बन जायेगी। एक रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान में कन्याओं का अनुपात वरों की तुलना

में कम हो रहा है। क्योंकि कन्या भ्रूण की गर्भ में ही हत्या कर दी जाती है। आने वाले युग में तो कन्या की खोज कष्टप्रद हो सकती है। फिर तो चिन्ता यह होगी कि पुत्रों का संबंध कहाँ करें? वर के लिए वधू और वधू के लिये वर की खोज की चिन्ता इस लोक का एक विकट भय है। ऐसे लोकजीवन के भयों की श्रृंखला विविध रूपों में बनती है। कोई-न-कोई चिन्ता बनी ही रहती है। कोई व्यक्ति दुःखी है, कोई पीड़ित है। कोई अपराध हो गया तो भय कि कहीं पुलिस न पकड़ ले। ये बातें मस्तिष्क में चक्कर काटती रहती हैं और व्यक्ति चिन्ता में डूब जाता है। चिन्ता है तो चित्त में चंचलता आये बिना नहीं रहेगी। चंचलता भय की जननी है, जो भय का पालन-पोषण करती है।

दूसरा महाभय है-परलोक का भय। न जाने मरकर कहाँ जाऊँगा? नरक में चला गया तो भयंकर यातनाएँ प्राप्त होंगी। कटना, पिटना, अग्नि में झुलसाया जाना, करवत से चीरा जाना, पता नहीं क्या-क्या यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। व्यक्ति इन भयों से प्रकम्पित हो जाता है। कहीं इस आत्मा ने सही दिशा नहीं पकड़ी तो छठे आरे में जाना पड़ेगा-जहाँ ‘मच्छ गलागल न्याय’ होगा। वहाँ भी क्या कहें-मांसाहार, हिंसा, कैसे-कैसे कार्य करने होंगे। इस प्रकार अनेक कोटि संस्पर्शी विचारों अर्थात् अनेक प्रकार के विचारों का स्पर्श भय पैदा करता है। जिस समय भय का प्रसंग होता है, व्यक्ति अपने भीतर सिकुड़ता है और जहाँ सिकुड़न होती है वहाँ तनाव आये बिना नहीं रहता। हाथ को सिकोड़ेंगे तो तनाव महसूस होगा, कागज को सिकोड़ेंगे तो उस पर सलवटें पड़ जायेंगी। भय तनाव को पैदा करता है। जब तक भय है तब तक व्यक्ति आत्मसाधना में तत्पर नहीं हो सकता।

तीसरा भय है-आदान भय। मेरे पास इतनी संपत्ति है, कोई चोर-डाकू ले न जाय। आजकल तो चोर-डाकू नहीं भी आयें तो भी सभ्य डाका पड़ सकता है, जिसे आज की भाषा में छापा कहते हैं। दुःख तो होता होगा पर यह क्यों नहीं सोचता कि यह संपत्ति मेरे घर कहाँ से, कैसे आई? व्यक्ति सोचता है कि मैंने किया वह तो ठीक था। चाहे हजारों घर उजाड़े हों, पर मेरे घर हुआ तो बुरा हुआ, अन्याय हुआ। यह

‘आदान भय’ है। मैं सम्पत्ति का दान या उसका अर्पण कर दूँ, यह विचार आये तो अच्छी बात है पर दिया नहीं जाता। परिवार पर भी विश्वास नहीं रहा, नहीं तो चाबी सौंप देता। चाबी तो रखो ही नहीं, बैंक में डाल दो, चिन्ता दूर। जिस जमाने में तिजोरियाँ होती थीं उस जमाने में जैसे बहनों के पायल के घुंघरू बजते हैं, वैसे ही सेठजी की कमर में चाबियाँ बजती थीं। वह भी एक शौक था। अब तो लॉकर में डाल दिया और संतोष कर लिया कि वहाँ तो बिगाढ़ नहीं होगा। पर यदि सरकार का छापा पड़ गया तो बैंक के लॉकर भी सील हो जायेंगे। पर यह भय है किसे? उसे, जिसने बेर्इमानी से धन इकट्ठा किया है, वह अपने किये को बेर्इमानी नहीं कहेगा पर सरकारी कागजों में उसे बेर्इमानी कहा जायेगा। यदि वैसा नहीं है तो भय भी पौष्ठ में हैं तो भय रहेगा क्या? इसलिए श्रावकों को चार विश्राम-स्थल बताये गये हैं। इन विश्राम-स्थलों में भय से, तनाव से मुक्ति मिलती है। बारह व्रत ग्रहण करें तो कितना विश्राम मिले। पर नहीं, बातें तो चलती हैं कि बारह व्रत समझने हैं पर फुर्सत नहीं मिलती। कभी एक व्यस्तता रहेगी, कभी दूसरी। फिर संतों का संग भी हर समय उपलब्ध रहे, यह जरूरी नहीं। पर अपनी अक्षमता के लिनए कारण अवश्य प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। वे यह नहीं समझते कि कितने भी व्यस्त क्यों न हों पर घंटे-आध घंटे का समय निकल ही सकता है। व्रतों का महत्व भी समझने की आवश्यकता है। यदि द्वार खुले हैं तो आश्रव आत्मा के साथ जुड़ते चले जायेंगे। द्वार खुले होने से तात्पर्य है सांसारिकता में लीन होना। ऐसे लोग यद्यपि इस समय बस, ट्रेन, प्लेन आदि वाहनों से यात्रा नहीं कर रहे हों पर समस्त आरंभ प्रवृत्ति का पाप जुड़ता जा रहा है। आप कहेंगे कैसे? ये प्रवृत्तियाँ जुड़ती हैं और आगे तरंगें विक्षोभ पैदा करती हैं, यह सब इकट्ठा होता जाता है। इसे यों समझें-मान लीजिए आपने मकान किराये पर लिया, लिखा-पढ़ी कर ली, पर अभी मुर्हूत नहीं किया। इस स्थिति में किराया लगेगा या नहीं? आपका जुड़ाव हो गया। त्याग नहीं तब तक मार्ग खुले हैं और आत्मा से कर्मों का संयोग हो रहा है। एक करोड़पति सेठ के घर बालक जन्मा, उस बालक का भी उस फर्म में शेयर जुड़ा या नहीं? भले ही वह आज जन्मा हो पर वह हकदार बन गया। इसी

प्रकार चार गति एक परिवार है जिसमें जन्म लेने वाला प्रत्येक आत्मा चार गति की क्रियाओं का भागीदार हो जाता है। मांस, शराब, कल्लखाने का त्याग नहीं तो आत्मा के साथ पाप जुड़ता रहता है।

अकस्मात् भय-अचानक किसी विपत्ति के आने का भय भी मनुष्य को आक्रान्त किये रहता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अनागत की आशंका से भयभीत रहता है। परम-सुख के क्षणों में भी किसी आगामी दुःख या विपत्ति की आशंका उसे पूर्ण संतुष्ट नहीं होने देती। जो दुःख आ गया वह तो सहन कर लिया जाता है परन्तु जो आया नहीं उसका भय मनुष्य को भयानक रूप से आक्रान्त किये रहता है।

एक अन्य भव है-अपयश-भय। कहीं मेरी प्रतिष्ठा को हानि न पहुँचे, यह भय अच्छों-अच्छों की नींद हराम कर देता है। एक घटना है। उदयपुर के महाराणा के पास एक इत्र बेचने वाला गंधी पहुँचा। उसने खोल-खोलकर शीशियाँ दिखाई। इत्र भी अनेक प्रकार के थे और उनके मूल्य भी अलग-अलग थे। महाराणा सोचने लगे, इत्र किस काम का? मौज-शौक के लिए कपड़ों पर छिड़क लिया तो बस खुशबू रहेगी, बड़प्पन बना रहेगा। शौक के निमित्त इतना पैसा क्यों बरबाद किया जाय? उस समय उदयपुर के कोष में ज्यादा धन भी नहीं था। महाराणा ने सोचा मौज-शौक में पैसे उड़ाऊँगा तो कोष का क्या होगा? तब मुझे इत्र नहीं खरीदना है। गंधी विचार करने लगा, मैं इतना चलकर आया। काश! एकाध शीशी ही बिक जाती तो श्रम सार्थक हो जाता। जब राजा ही इत्र नहीं खरीदता तब सामान्य जनता से क्या उम्मीद की जाय? गंधी उदास लौट रहा था। मार्ग में महाराणा का ही एक सामन्त मिला। पूछा-‘भाई उदास क्यों हो?’ उसने अपनी उदासी का कारण बता दिया। सामन्त ने कुछ विचार किया और फिर सारा इत्र खरीद लिया और घोड़े के शरीर पर चुपड़ दिया। गंधी प्रसन्न होकर चला गया। महाराणा को यह बात मालूम पड़ी तो उन्हें क्रोध आ गया। यह तो सरासर हमारी बेइज्जती है। जिस इत्र को मैंने नहीं खरीदा उसे सामन्त हमारी प्रतिष्ठा पर आघात करने वाला है। सामन्त को बुलाया गया और उससे इस अशिष्टता का कारण पूछा गया। सामन्त ने शान्ति से उत्तर दिया-‘महाराज!

मैंने आपकी बेइज्जती नहीं की बल्कि आपकी इज्जत बढ़ाई है। आपने इत्र नहीं खरीदा इस बात चर्चा वह जिस राज्य में पहुँचता, उसमें करता। वे राजा सोचते, जरूर महाराणा का कोष खाली हो गया है। वे आक्रमण करते और फिर हम परेशानी में पड़ जाते। मैंने इत्र खरीद कर घोड़े पर चुपड़ दिया तो जब वह यह बात वहाँ कहेगा तब वे सोचेंगे-जहाँ इत्र से घोड़े के शरीर चुपड़े जाते हैं वहाँ के कोष की क्या बात करें, और आपका यश बढ़ेगा।' राजा खुश हो गया। क्रोध प्रसन्नता में बदल गया। यह क्रोध आया था प्रतिष्ठा की हानि के भय से। हमारे साथ परेशानी यह है कि हम छोटी-छोटी बातों को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते हैं। यदि जीवन व्यवस्थित नहीं है तो इज्जत जायेगी पर यदि व्यवस्थित जीवन में घुल-मिल जायें तो आपकी इज्जत कोई ले नहीं सकता। इज्जत कोई वस्त्र नहीं है कि कोई खींच ले, लेकिन आज हमने उसका जामा पहन लिया है। द्रौपदी के अहंभाव ने उसे निर्वस्त्र किये जाने की स्थिति तक पहुँचा दिया। लेकिन जब उसने अहंभाव त्याग कर परमात्मा के चरणों में समर्पण कर दिया तब फिर उसका चीर दुःशासन खींचते-खींचते थक गया पर वह चीर समाप्त नहीं हुआ।

राजा हरीशचन्द्र चांडाल के घर बिक गये पर क्या उनकी प्रतिष्ठा की हानि हुई? आज आप को चांडाल के घर पानी भरना पड़े तो कहेंगे कि दुनिया को मुँह कैसे दिखाऊँ, ऐसा इसलिये है कि हमने इज्जत को ऊपर ओढ़ लिया है, तभी महाराणाजी सामन्त की बात सुनकर प्रसन्न हो गये। वही गंधी संयोग से दिल्ली के बादशाह के पास पहुँचा। बादशाह ने शीशियाँ देखीं और चुनकर दो शीशियाँ पसन्द कर ली। गंधी रवाना होने लगा। शीशियों को उठाने-रखने में एक दो बूँद इत्र जमीन पर भी गिर गई। बादशाह ने सोचा-वे निर्थक क्यों जायें इसलिए उठाकर अपनी दाढ़ी, मूँछ पर लगा लीं। इधर तो बादशाह ने बूँदें उठाई, उधर दरबार में बीरबल का प्रवेश हुआ। बादशाह ने सोचा, हो न हो बीरबल ने मुझे बूँद उठाते हुए देख लिया है। अब तो अवश्य मेरे यश पर धब्बा लग जायेगा। बादशाह की कारगुजारी देखकर बीरबल मंद-मंद मुस्कराने लगा। बादशाह ने अपनी झोंप मिटाने के लिए कहा कि खजांची

को बुलाओ! खजांची को बुलाया गया और उससे कहा गया कि दिल्ली के जितने भी गंधी हैं। उन्हें खबर दे दो कि बादशाह तुम्हारा सारा इत्र खरीदना चाहते हैं। क्रियान्वित हो गई। जिसका भी जितना माल था, स्टॉक में पड़ा था, बिक नहीं रहा था, वह सभी माल ले-लेकर आ गये। बादशाह ने आदेश दिया यह सारा इत्र हमारे स्नान के हौज में भर दिया जाय। बादशाह ने उस इत्र के हौज में डुबकी लगा दी। बादशाह स्नान करते, तैरते हुए आनंदित हो रहे थे। बीरबल हौज के पास ही खड़ा था। उसके चेहरे पर मुस्कान थी। बादशाह ने कहा-बीरबल इत्र के हौज में तैरने में बहुत आनंद आ रहा है। बीरबल का प्रत्युत्तर था-हुजूर, जो बूँद में गई वह हौज में नहीं आ सकती। बादशाह ने झोंप मिटाने के लिए इत्र के हौज में स्नान के लिए जो इतना खर्च किया उससे क्या उसके यश में धब्बा लगने से बच गया? आज यश के लिए व्यक्ति क्या नहीं करता? यह नहीं सोचता कि दिखावटी यश क्या सदा बना रहेगा? सहज अवस्था से हटने पर ही ऐसी प्रवृत्ति बनती है। बादशाह सहज अवस्था से चलता तो यह भी सोचा जा सकता था कि एक बूँद भी निरर्थक क्यों जाय, काम में आये तो भले ही पूरी शीशी भी आ जाय, नहीं तो बूँद को भी निरर्थक क्यों जाने दें। परन्तु ऐसा उसने नहीं सोचा क्योंकि उसके मन में हीन-भावना पैठी हुई थी। इसीलिये उसे भय हुआ कि इत्र की बूँदें उठाने के मेरे कार्य को मेरी कंजूसी की मानसिकता के प्रमाण के रूप में देखा जायेगा। तब दूसरों की नजरों में अपनी प्रतिष्ठा गिरने के भय ने उसे फूहड़ रूप में वैभव-प्रदर्शन करने के लिये प्रेरित किया। बीरबल की सटीक टिप्पणी इस प्रतिक्रिया का उचित उत्तर था।

परन्तु ऐसा भी होता है कि व्यक्ति का मन में हीन भावना नहीं, सार्थक उपयोग की भावना हो। तब यदि वह ऐसा करे तो उसके कार्य को चिन्तन की गंभीरता के रूप में देखा जायेगा। बीकानेर के भांडाशाह ने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया था जब उन्होंने जमीन पर गिरी घी की एक बूँद को उठा लिया था। घटना इस प्रकार है-बीकानेर के भांडाशाह के मन में विचार आया कि नगर में एक सुन्दर मंदिर का निर्माण करवाना है। इस हेतु बड़े-बड़े वास्तुकार और शिल्पकार बुलाये गये।

संयोग से एक घी की बूँद गिर गई। उन्होंने वह उठाकर जूते पर लगा ली। एक मक्खी भी घी में गिर गई। उसे भी निकालकर उन्होंने जूते पर मसल लिया। कारीगरों ने विचार किया—कैसे मक्खीचूस से पाला पड़ा है। यह क्या मंदिर बनवायेगा? भांडाशाह उनके मनोगत भावों को जान गये। उन्होंने शिल्पकारों से कहा—मैं चाहता हूँ कि मंदिर-निर्माण में जो नींव भरी जाय उसमें सीमेन्ट, चूना आदि जो भी डाला जायेगा वह घी से मांडा जाय और उन्होंने घी मंगवा भी दिया। शिल्पकारों ने पूछा—क्या बात है, एक ओर तो मक्खी को भी आपने मसल लिया और दूसरी तरफ घी की नाली बहा दी। उसने कहा—‘मैं जैनी हूँ—अनर्थ दण्ड से बचने के लिए कटिबद्ध हूँ। अर्थ क्रिया के लिये करना पड़े तो कोई बात नहीं पर वह अनर्थ था। उस घी में चीटियाँ आ जातीं, न जाने कितने जीवों की हिंसा होती, कितना पाप होता? भांडाशाह की वह क्रिया उनकी मितव्ययी प्रवृत्ति ही नहीं, गहन धर्मनिष्ठा का भी प्रमाण थी क्योंकि उसमें वैभव-प्रदर्शन की मानसिकता का लेशमात्र अंश भी नहीं था। विशाल मंदिर बना, जिसकी गणना आज भी बीकानेर नगर के सुन्दरतम मंदिरों में की जाती है। यदि हम थोड़ा-सा भी विवेक बरतें तो अनर्थ क्रिया से बच सकते हैं। विवेक है तो सांसारिक कार्य करते हुए भी धर्म का उपार्जन किया जा सकता है।

एक महाभय आजीविका का भी होता है। पुराने जमाने में तो इसका रूप इतना विकराल नहीं था जितना आज हो गया है क्योंकि तब आजीविका के साधन किसी रूप में उपलब्ध हो जाते थे लेकिन आज तो बेकारी अथवा आजीविका के अभाव की समस्या विश्व-व्यापी रूप ग्रहण कर चुकी है। सरकार और व्यवस्था की दोगली नीतियों के कारण यह समस्या विकरालतर होती जा रही है। पहले कहते थे—‘उत्तम खेती, मध्यम बान। अधम चाकरी भीख निदान।’ आज तो नौकरी भीख की तरह माँगी जाती है और माँगने वाला सब कहीं दुक्कारा जाता है। परन्तु आजीविका का अर्थ नौकरी तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। वह कोई भी कार्य, जो मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो, आजीविका कहा जा सकता है। कार्य की इस परिभाषा की

परिधि आज इतनी व्यापक हो गई है कि चोरी, डकैती, अपहरण, तस्करी जैसे दुष्कृत्य भी इसकी कोटि में आ गये हैं। परन्तु ये तो अर्थ-संकोच के उदाहरण हैं। आजीविका से अभिप्राय उस धर्मविहित कार्य से होता है जो ईमानदारी, सम्मान, न्यायबुद्धि और सद्भाव के साथ जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग खोलता है। परन्तु सभी युगों में अनीतिपूर्वक जीविकोपार्जन करने वालों के दृष्टांत धर्मग्रंथों और इतिहास में भरे पड़े हैं। बस, भय का यही कारण है क्योंकि ऐसा लगता है कि पूरी ईमानदारी और नैतिकता के सहारे आजीविका कमाने के मार्ग पर चलना कठिन है। जो धर्म और नीति के अनुसार चलता है उसे फूँक-फूँक कर आजीविका के क्षेत्र में कदम रखने पड़ते हैं, फिर भी पैर फिसलने की संभावनाएँ तो रहती ही हैं क्योंकि लाभ का लोभ वृत्तियों पर हावी हो जाया करता है। तब क्या इस भय से उद्धार का मार्ग नहीं है? मार्ग है। हमारी पुरानी नीति कथाओं, कथनों और संतों का वाणी में ऐसे मार्गों के उदाहरण भरे पड़े हैं। कहते हैं—‘रुखी-सूखी खाय के ठण्डा पानी पीव। कर साहब की बन्दगी भूखे को दे भीख’, अथवा पैसा हाथ का मैल होता है। इतिहास साक्षी है कि संतों ने सिकन्दर और अकबर जैसी हस्तियों के प्रलोभनों को तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया था। यदि धर्म, नीति और अध्यात्म द्वारा दिखाये गये मार्गों पर विचार करें तो मोह तथा तृष्णा से मुक्त ‘सादा जीवन उच्च विचार’ का सिद्धान्त आजीविका के भय से मुक्ति दिला सकता है। निश्चय ही ऐसी मानसिकता के विकास के लिए गुरु-कृपा और गुरु के आर्शीवाद की महती आवश्यकता होती है। वैसे भी ये दोनों तो सभी प्रकार के भयों से मुक्ति के लिए आवश्यक हैं।

सात भय में एक भय मरण-भय भी है। जीवन बहुत प्रिय होता है। कोई भी मरना नहीं चाहता। मौत से बचाव के हजारों उपाय किये जाते हैं। ये उपाय ही दर्शाते हैं कि मन में कहीं न कहीं भय घूसा हुआ है। भगवान् सुपाश्वर्नाथ इन भयों को टालते थे। टालने की इस प्रक्रिया का सूत्र क्या था, इसका निर्देश प्रभु महावीर ने इस प्रकार दिया है-

आणाणिददेसकरे गुरुणमुववायकारए

गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करना, उनके सन्निकट-उपपात में रहना—इस प्रकार जब वह शरण ग्रहण कर लेगा तब उसका लक्ष्य हो जायेगा—‘अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णतं धर्मं सरणं पवज्जामि’ और गुरु और धर्म की शरण में ही कदम बढ़ायेगा। यह वैसी ही बात हुई जैसी जल प्रवाह को निर्यन्त्रित कर उसका उचित नियोजन करने की, जल के प्रवाह को नहर की दिशा में प्रवाहित कर उससे खेती करने और विद्युत का उत्पादन करने की। जब तक दिशा निर्देश नहीं होगा, विकास भी संभव नहीं। गुरु से निर्यन्त्रित होकर वृत्तियों का उचित नियोजन हो जाता है और मोक्ष की दिशा में गति हो जाती है। तब ‘सौंप दिया उस जीवन का सब भार तुम्हारे चरणों में।’

गुरु की शरण छत्र है जहाँ भय का स्थान नहीं है, वहाँ आत्मा उद्देलित नहीं हो सकती, चित्त में तरंगें नहीं उठतीं, विक्षोभ और चल-मल-अगाढ़ दोष उत्पन्न नहीं होता तथा चित्त शांत-प्रशांत हो जाता है। निर्देश नहीं स्वीकारा तो विभ्रम और विभ्रम से चंचलता पैदा होगी। वहाँ जो बुद-बुदे उठेंगे वे भय का कारण बनेंगे। इस स्थिति से बचना है तो प्रभु की देशना अमोघ औषधि का काम करेगी। गुरु की आज्ञा के प्रति-समर्पित हो जाओ। गुरु जिस ओर बहाव को मोड़ दें उस ओर ही मुड़ जाओ, उसे ही अपनी गति मान लो। किधर बहाव देना है, यह तो उन्हें ही सोचना है—मैं तो अपनी शांत अवस्था और समाधि-भाव में ही रमण करता रहूँ। जिसकी मानसिक स्थिति एक अग्र पर अवलंबित होती है वह स्थिर बनता है, नहीं तो मर्मदिर की ध्वजावत् उसकी डाँवाडोल स्थिति बनी रहती है। गीताजी में भी श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज

सभी धर्मों को छोड़ कर एक मेरी शरण, एक मेरे धर्म में आ जाओ। सर्व धर्म अर्थात् इन्द्रियों के जो-जो विषय हैं वे उनके धर्म हैं, उन्हें छोड़कर मेरे धर्म में आ जाओ। यहाँ मेरे धर्म से श्रीकृष्ण का संकेत स्व-आत्मा के लिये है उस आत्मा के धर्म में आने का संकेत है। उस शरण में आने के बाद सात भय भयभीत नहीं कर सकेंगे। आपके

सम्यक्त्व में एकनिष्ठता आ जायेगी। एक देव, एक गुरु और एक धर्म की उपासना में मन जुड़ जायेगा। भगवान् महावीर ने अन्बड़ के समक्ष सुलसा श्राविका का नाम लिया था क्योंकि वह ‘परमत्थ संथवो वावि सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा’ के स्वरूप को आत्मसात् करने वाली थी। उसके जीवन में सम्यक्त्व की निर्मलता थी। एक निष्ठा से सम्यक्त्व का पालन कर रही थी। एकनिष्ठा नहीं रही तो फिर अन्य अनेक रागी-द्वेषी देवी-देवताओं के प्रति रूझान बनेगा। लोगों ने सुलसा श्राविका से कहा-पच्चीसवें तीर्थकर के रूप में अम्बड़ का आगमन हुआ है। कुछ लोग कहते हैं-देखने चले गये तो क्या हुआ? प्रश्न होता है-क्यों चले गये? क्या आपको प्रभु की वाणी पर विश्वास नहीं है? तीर्थकर चौबीस ही होते हैं, पच्चीसवां तीर्थकर ‘न भूतो न भविष्यति’। यह आपका भटकना भी मोह का उद्घेग है। उससे चित्त की चंचलता बनती है। चंचलता आयी तो श्रद्धा-प्ररूपणा स्थिर कैसे रहेगी? श्रद्धा और प्ररूपणा सही है तो स्पर्शना भी सही होगी। सुलसा ने कहा-मैं मंदिर की ध्वजा नहीं बन सकती हूँ। उसका अभिप्राय था कि चंचल प्रवृत्ति की नहीं बनूँगी, एकनिष्ठ रहूँगी। सुलसा भी एक नारी थी, पर देखिये उसकी दृढ़ता। यदि नारी अपना स्वरूप जगा ले तो बहुत-कुछ कर सकती है। दुर्गा, काली का नाम सुना होगा। कथा चाहे जिस रूप में हो, पर दुर्गा ने असुरराज का वध किया था। एक राक्षस को मार दिया था। इसी प्रकार दहेज-लोलुप राक्षसों को चाहे तो ये बहनें परास्त कर सकती हैं। वे प्रण कर लें, कि हम चाहे कुँवारी रह लेंगी पर ऐसे राक्षसों को अपना जीवन समर्पित नहीं करेंगी। पर यदि वे अपने-आपको अबला समझ लें, सोच लें कि हम क्या कर सकती हैं, तो फिर कोई उपाय नहीं। वे कहेंगी हम पिताजी के सामने जुबान कैसे खोलें? और भी मजबूरियाँ बतायेंगी पर विनयपूर्वक अपने हक की बात कहने में उन्हें संकोच नहीं होना चाहिये।

एक घटना है। एक शिक्षक के तीन पुत्रियाँ थीं। वह विवाह की चिन्ता में घुल रहा था। सोचता था कि अगर मैं अपना घर भी बेच दूँ तो भी इनके हाथ पीले नहीं कर पाऊँगा। संतों के समक्ष उसने अपनी

व्यथा कही-क्या करूँ? मकान बेच कर सड़क पर आ जाऊँ तो भी इनके पीले हाथ नहीं कर सकता। कभी सोचता हूँ-हम दोनों कुएँ में गिर कर प्राणान्त कर लों। उनकी पुत्रियाँ भी गुरु-दर्शनार्थ आई हुई थीं। पिता को देखा तो वे भी पास के कमरे में दीवार से सटकर बात सुनने लगीं। पिता की व्यथा को उन्होंने समझा कि ये हमारी वजह से दुःखी हैं। उन्होंने मन में उपाय ढूँढ़ लिया। पिता के जाने के पश्चात् उन्होंने आचार्यश्री नानेश से निवेदन किया-‘हमें शादी करने के त्याग करवा दीजिये। यदि कोई पैसे की बात नहीं करेगा तो भले ही विवाह करें अन्यथा हम विवाह नहीं करना चाहतीं। आचार्यश्री ने कहा-‘देखो भावुकता में मत बहो। अच्छी तरह सोच लो।’ उन्होंने कहा-‘हमने अच्छी तरह सोच लिया है। प्रतिज्ञा का पालन अच्छी तरह करेंगी।’ और उन्होंने प्रतिज्ञा का पालन किया। यह घटना प्रमाणित करती है कि बहिनें यदि चाहें तो अपनी क्षमता और शक्ति को जाग्रत कर सकती हैं। उन्हें अन्याय का प्रतिकार करने में कभी पीछे नहीं रहना चाहिए। एक आलंबन पर, चाहे वह धर्म का हो या गुरु का, अपने जीवन को केन्द्रित कर वे अपना यह भव सुधार सकती हैं और सभी भयों से आसानी से मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं। यही बात भाइयों के संबंध में भी सत्य है-गुरु अथवा धर्म का अवलम्बन उन्हें सभी भयों से मुक्त कर उनकी सभी लौकिक चिंताओं से उन्हें छुटकारा दिला सकता है अन्यथा चिन्ता उन्हें सतत जलाती रहेगी। चिन्ता और चिता में केवल एक बिन्दी का अन्तर है परन्तु चिन्ता चिता से भी भयानक दाहक है। चिता तो मृत शरीर को जलाती है जबकि चिन्ता जीवित शरीर को जलाती रहती है। गिरधर कविराय ने ठीक ही कहा है-

चिन्ता ज्वाल शरीर वन, दावा लगि लगि जाय।
प्रकट धुआँ नहिं देखियत, उर-अंतर धुंधुआय॥
उर-अंतर धुंधुआय जलै ज्यों काँच की भट्टी।
जलिगौ लोहू-माँस, रह गइ हाड़ की टट्टी॥
यदि इस स्थिति से बचना है, तो जैसा प्रार्थना की पर्कितयों में
कहा गया है, श्री सुपार्श्वनाथ जिन की वन्दना करें, उन्हें अपने एकमात्र



अवलंब के रूप में हृदय में बैठायें क्योंकि वे ही उस सम्पूर्ण सुख-सम्पत्ति के दाता हैं जिसकी प्राप्ति जीवन का लक्ष्य होती है। वे शान्त सुधारस के ऐसे जलनिधि हैं जिसमें पहुँच कर जीवन-नैया स्थिर भाव से बहने लगती है। वे ही इस संसार-सागर से पार करने वाले सेतु भी हैं। अतः सभी भयों को उनके चरणों में समर्पित कर हम निर्भय हो जायें।

भाद्रपद शुक्ला 12

24-9-96

22

गुरु-सान्निध्य और तन्मय योग

इस संसार में जो सात महाभय हैं वे मनुष्य को आक्रान्त न कर सकें इसके लिए प्रभु की कृपा अपेक्षित है। ऐसी कृपा उनकी चरण-सेवा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। यही बात कवि आनन्दघनजी प्रार्थना के माध्यम से कहते हैं-

सावधान मनसा करी, धारो जिनपद सेव ललना।

पर सावधान कैसे हों? सावधान कहने से व्यक्ति सजग हो जाता है। पर जरा गहराई में जायें तो सावधान का मतलब समझ में आ जाता है—सावधान स+अवधान। अवधान अर्थात् उपयोगपूर्वक, ‘स’ अर्थात् सहित। भाव हुआ मन की जो दशा है उसे अवधान के साथ संयुक्त करते हुए जिनेश्वर प्रभु की सेवा स्वीकारो। सेवा कैसे करें? आज तो जिनेश्वर प्रभु सामने नहीं हैं। जिस समय कवि ने कविता बनाई थी उस समय भी जिनेश्वर मौजूद नहीं थे। मौजूद तो थे पर वह मौजूदगी हमारी क्षेत्रीय परिधि में नहीं थी। महाविदेह क्षेत्र में तो वे सदैव मौजूद हैं। उस दृष्टि से वे अभी भी मौजूद हैं पर क्षेत्रीय परिधि की स्थिति से हमारे समक्ष नहीं हैं। सेवा इस तरह नहीं होती कि एक व्यक्ति यहाँ हो और दूसरा दूर हो। पर कहा जाता है कि हजारों कोस दूर रह कर भी जो आज्ञा की आराधना करे तो वह सेवा ही करता है। ‘धारो जिनपद सेव’ जिनेश्वर की सेवा के लिए मन को अवधानता से जोड़ना होगा। अवधान किस रूप में हो? उत्तर होगा ‘तन्मय योग के रूप में’। हमारे शरीर की

सरंचना में यद्यपि चिकित्सक जिन केन्द्रों को ढूँढ़ नहीं पाये हैं, योगियों ने साधना के माध्यम से उन केन्द्रों को पा लिया है, उनकी अनुभूति की है और साधना करते हुए तथा शक्ति का ऊर्ध्वारोहण करते हुए उसे ज्ञान केन्द्र में पहुँचाया है। यदि वह शक्ति अधोगमी हो जाती है तो व्यक्ति मोह अथवा मूर्च्छा में पड़ जाता है। शक्ति या ऊर्जा जब-जब अधोगमी होती है तब-तब ईर्ष्या, दुर्भावना और राग-द्रेष जैसी वृत्तियाँ पनपने लगती हैं। बात हम मन की करते हैं पर मन बेचारा क्या करे? मन तो दर्पण है, स्फटिक के समान स्वच्छ, निर्मल। उसके सामने मनोवर्गण की जिन वृत्तियों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही हमें अनुभूत होता है और इसमें मारा जाता है 'मन'। चित्त उसके पीछे होता है। उस चित्त में जिन वृत्तियों का संयोग या निर्माण होता है उनके कारण हम चित्तवृत्ति को जान नहीं पाते और उन चित्रों को देखकर सोच लेते हैं कि मन खराब है। किसी व्यक्ति का फोटो देखकर हम कहें कि व्यक्ति खराब है तो यह अनुचित होगा क्योंकि फोटो तो व्यक्ति नहीं है। दीवार पर यदि गाय का या घोड़े का चित्र अंकित है तो क्या हम उस घोड़े की सवारी कर सकते हैं या क्या चित्र की गाय से दूध मिल सकता है? वैसे ही हम मन को निर्यन्त्रित करना चाहते हैं पर यह नहीं सोच पा रहे हैं कि चित्तवृत्तियों का जो-कुछ प्रसंग बन रहा है उसे निर्यन्त्रित कैसे करें? चित्तवृत्तियाँ शांत नहीं तो मन भी शांत नहीं होगा, मन में तरंगें उठती रहेंगी इसलिये अवधान की बात कही गई है। अवधान का अर्थ 'कला' भी है। गहराई से समीक्षा की जाना भी अवधान है। समीक्षा में वे वृत्तियाँ सामने आयेंगी। फिर प्रश्न होगा-उन्हें शमित कैसे करें? प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र में चित्तवृत्तियों का निग्रह करने के लिए कहा है-

**आणानिदेसकरे, गुरुणमुववायकारण।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए वुच्चई॥**

गुरु के उपपात में अर्थात् नजदीक अर्थात् गुरु के सानिध्य में जो रहता है वह इन वृत्तियों का निग्रह कर सकता है। गुरु का सानिध्य भी कैसा हो-यह समझने की बात है क्योंकि यदि सानिध्य भी मिल गया पर हमने बीच में परत या परदा रख लिया तो सामीप्य भी लाभदायी नहीं बन पायेगा।

एक महात्मा के पास एक गरीब व्यक्ति आया, बहुत दुःखी था। उसने अपने दुःख का रोना रोया। महात्मा ने एक लोहे की डिबिया देते हुए कहा-इसमें एक पारस पत्थर है, जिससे लोहे का स्पर्श हुआ तो लोहा स्वर्ण बन जायेगा। गरीब ने डिबिया हाथ में ली, देखा। अरे, यह डिबिया तो स्वयं लोहे की है और महात्मा ने कहा है कि इसमें पारस पत्थर है जिसे पारसमणि भी कहते हैं, तब उसने इस डिबिया को स्वर्णमय क्यों नहीं बनाया? बहुत देर तक वह उसे देखता रहा फिर वह डिब्बी उसने महात्मा के चरणों में रख दी और कहा-‘महात्मन् मुझ गरीब को आशीर्वाद ही दे देते तो अच्छी बात थी पर कम से कम हंसी तो न करते।’ ‘भाई मैंने हंसी कहाँ की है?’ ‘आप ही कह रहे थे कि पारसमणि लोहे को स्वर्ण बनाती है पर यह डिब्बी भी तो लोहे की ही है। इसमें परिवर्तन क्यों नहीं हुआ?’ महात्मा ने डिब्बी हाथ में ली, खोलकर मुस्कराते हुए कहा-‘मुझे स्वर्ण की आवश्यकता नहीं है। पर तुम गहराई से देखो, डिब्बी व पारसमणि के बीच एक पतली झिल्ली है, इसलिए सीधा स्पर्श बन नहीं पा रहा है।’ पतली झिल्ली, वह गरीब समझ गया, आप भी समझ गये होंगे। जब तक झिल्ली का आवरण है तब तक गुरु का उपपात लाभदायी नहीं हो सकता। प्रभु महावीर ने बताया है कि गुरु के पास कैसे रहें? उनका संबोधन है-‘यथाजात’ अर्थात् ‘जन्म लेता हुआ बालक’, जैसे उसके शरीर पर वस्त्र का आवरण नहीं होता वैसे ही गुरु के पास रहते हुए चित्त पर आवरण मत रखो। प्रश्न उत्पन्न होता है कि आवरण दूर करने के लिए ही तो हम गुरु के पास आते हैं और बात कही जा रही है कि आवरण मत रखो। यदि हम स्वयं आवरण हटा पाते तो गुरु के पास क्यों आते? यदि हमें ही हटाना है तो सानिध्य किस काम का? बात समझने की है। आवरण नहीं रखने से अभिप्राय है कि हमारा चित्त प्रकम्पित न हो। यदि वृत्तियों का निर्माण हो रहा है तो उसे गुरु के समक्ष स्पष्ट रूप से बयान करते रहें तो वे वृत्तियाँ निर्मूल होती जायेंगी, जम नहीं पायेंगी। अन्यथा एक चित्तवृत्ति का जन्म हुआ, उसे दबाने की कोशिश नहीं की तो दूसरी और अन्य वृत्तियों का जन्म होगा और वे वृत्तियाँ इतनी गहरी हो जायेंगी कि

चित्त ओङ्गल हो जायेगा। आवरण में हम उसे ढूँढ़ नहीं पायेंगे। चित्त सत् चित्त आनन्द रूप है। सत् अर्थात् आत्मा, चित्त अर्थात् आनन्द का केन्द्र, उसे हमने ढँक दिया है। हमारे भीतर अमृत भरा है, पर अमृत का कलश हमने चारों ओर से ढँक दिया है, खोलने की देरी है। घड़ा भरा है पर क्या काम आ रहा है? लोग मर रहे हैं, पर जब जनता को खोलकर पिलाया नहीं, डाला नहीं, तब तक लाभ नहीं होगा। घड़ा भरा ही पड़ा रह जायेगा। जिस चित्त में आनन्द है उसे आवेष्टित, आवरण से वेष्टित करने से वह छिप गया है। चित्त को गुरु के चरणों में रखना है, गुरु के पास रहना है। गुरु का स्पर्श पाना चाहते हैं तो चित्त वृत्ति का वेष्टन अलग कीजिये। आवरण अलग करने का अर्थ है चित्तवृत्तियों में जिस रूप में भाव निर्मित हुए हैं उसी रूप में बयान हो जायें। यदि बयान होता रहे तो नई वृत्तियाँ जन्म नहीं लेंगी, चित्त परिष्कृत हो जायेगा। जो आच्छादित है वह प्रकट हो जायेगा, फिर साधना का अमृत निर्झरित होगा। वह शक्ति-केन्द्रों को जाग्रत करेगा। जाग्रत कर लिया और उसे निर्यति रखा तो ज्ञान-केन्द्रों में पहुँच जायेगा फिर उससे साधक को अनोखे आनन्द की अनुभूति होगी। फिर न चिन्ता, न राग और न अन्य कोई मूर्च्छा ही रह पायेगी। वह साधक अपने-आप में मस्त हो जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को जाग्रत कर सकता है पर जाग्रत करने के लिए गुरु की समीपता आवश्यक है। तभी कहा गया है-

वसे गुरुकुले पिच्चं

हम जानते हैं कि रोगी को डॉक्टर की देख-रेख में रखा जाता है। पुराने वैद्य संगीन रोगी को अपनी देख-रेख में रखते थे जिससे वह किसी अपथ्य का सेवन न कर लें। अपथ्य-सेवन कर लिया तो उपचार मुमकिन न होगा। उत्तराध्ययन सूत्र में एक आख्यान आता है-

राजा बीमार हो गया, वैद्य ने उपचार किया और निर्देश दिया-आप को आम की छाया में भी नहीं बैठना है, आम की गंध भी नहीं लेनी है, खाना तो है ही नहीं, अन्यथा आपका जीवन खतरे में पड़ जायेगा। एक बार राजा जंगल में घूमने गया, थका हुआ था, आप्र वृक्ष दिखाई दिये, विश्राम के लिए आगे बढ़ा। मंत्री ने मना किया-'राजन्!

‘उस ओर नहीं बढ़ना है।’ राजा ने कहा—‘विश्राम करने में क्या बाधा है, मैं आम खा नहीं रहा हूँ।’ और राजा आप्र वृक्ष के नीचे लेट गया। राजा की निगाहें फलों पर टिकी थीं। भीनी-भीनी महक आ रही थी। मन चाह रहा था—एक फल गिर जाये और संयोगवशात् एक फल हवा के झोंके से टूटा और राजा की गोद में गिरा। मंत्री ने मना किया—‘राजन्! हाथ में न लें।’ ‘अरे, मैं देख रहा हूँ, खा थोड़ी रहा हूँ।’ उसका एक मन कह रहा था—खा लूँ, वैद्य तो यूँ ही डराते हैं। मुझे तो अभी बीमारी नहीं है। विचार कीजिये—आप उस जगह हों और हरी वनस्पति का त्याग नहीं हो, और हो भी तो एक मन कहेगा—‘कुण देखो।’ अभी भूख लगी है क्यों नहीं खा लूँ, फिर आलोचना का लूँगा, प्रायश्चित्त ले लूँगा। दूसरा मन कहेगा—त्याग नहीं तोड़ना है। एक मन कहता है—मैंने तोड़ा नहीं है। मुझे पाप क्यों लगेगा? पर ये ही क्षण परीक्षा के होते हैं। राजा ने आम को हाथों में इधर-उधर घुमाया, मन बहलाया, फिर मुँह तक ले आया। मंत्री ने हाथ पकड़ लिया। ‘अरे मैं खा नहीं रहा हूँ, सूंघने में क्या बुराई है?’ मंत्री कहता रहा पर कौन सुने? भक्षण कर लिया। शरीर में अकड़न पैदा हुई, राजा को घोड़े पर लादकर राजभवन में लाया गया। वैद्य ने देखा तो कहा—अब इलाज नहीं हो सकता है। मैंने पहले ही कह दिया था कि आपको आम की छाया से भी दूर रहना है क्योंकि यदि आप निकट जायेंगे तो मन पिघल जायेगा। नब्ज की गति कह रही है आपने आम का भक्षण कर लिया है। अब चिकित्सा काम नहीं आयेगी।

जैसे इस प्रकार अपथ्य सेवन करने पर राजा का उपचार नहीं हुआ उसी प्रकार गुरु के पास अपथ्य सेवन कर लिया तो इलाज कारगर नहीं होगा। परन्तु यदि निकट रहकर प्रकटीकरण करता रहा तो फिर निरन्तर इलाज होता रहेगा और बीमारी नहीं बढ़ पायेगी। वृत्तियों का निर्माण नहीं होने से शक्ति/ऊर्जा ऊर्ध्वांगमी बनेगी। सामीप्य के लिए द्रव्य रूप से जो गुरु का सानिध्य होना चाहिए पर यह संभव नहीं कि सभी संत गुरु से पास बैठ जायें। तो फिर गुरु का सानिध्य कैसे होगा? उसके लिए ‘तन्मय योग’ की बात है। हम अपने चित्त में एक गुरु का निर्माण करें, ऐसा निर्माण कि जैसे ही हम ध्यान करें, गुरु हमारे सामने

आ जायें और हम उनका उपपात लेकर सामीप्य प्राप्त कर लें। वस्तुतः प्रतिमा उपपात नहीं दे सकती पर यदि चित्त में गुरु को गहरा बिठा लिया जाये तो फिर कभी जुदाई या अलगाव संभव नहीं है। हमारे अंतर में जो गहरा समा गया उसे कोई निकाल नहीं पायेगा। गुरु ही नहीं, जिस भी व्यक्ति को आकृष्ट करना है उसे भी 'तन्मय योग' की साधना से आकृष्ट किया जा सकता है। लेकिन गलत कार्यों के लिए तन्मय योग का सहारा न लिया जाय। नहीं तो शक्ति का ह्लास होगा। दूसरों की भलाई के लिये यदि उसका सहारा लिया जाता है तो शक्ति तो वहाँ भी लगेगी पर उसका सदुपयोग होगा।

लन्दन में एक बहिन ने बहुत-से प्रयोग किये। उसने बताया कि यदि कोई आहाद भाव से भरा हुआ है तो उसके चित्त को आकृष्ट करने में मात्र पन्द्रह सेकंड का समय लगता है और यदि मैं उसके चित्त में दूसरे भावों को उभारना चाहती हूँ तो पन्द्रह सेकंड में कार्य हो जाता है। उसने यह भी बताया कि यदि व्यक्ति में अहंकार, द्वेष आदि के भाव हैं तो उसके चित्त को आकृष्ट करने में बहुत शक्ति व्यय करनी पड़ती है। तब तीस मिनट का समय परिष्करण में लग जाता है और उसके लिए शक्ति संयोजन में मेरा वजन भी घट जाता है। जिस समय शक्ति संप्रेषण करती हूँ उस समय तीस मिनट के कार्य में मेरा चार पौंड वजन घट जाता है। आप भी प्रयोग में ध्यान रखें। कवि आनन्दघनजी भी कह रहे हैं-

सावधान मनसा करी, धारो जिनपद सेव ललना

जिनपद की सेवा और आराधना हम करना चाहते हैं तो सही रूप में आराध्य को हृदय में प्रतिष्ठित करें। प्रत्यक्ष हैं, तो गुरु के सामने वृत्तियों को संशोधित करें और प्रत्यक्ष नहीं हैं तो स्वयं को आराधना में तन्मय कर लें, तभी होगा गुरु का, परमात्मा का उपपात। और फिर अपार आहाद भाव, प्रेम और आनन्द की अनुभूति होगी। वही अमृत की धार फिर बाहर बरसने लगेगी। तीर्थकर के समवसरण में यदि प्राणी की चित्तवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं तो उसका भी कारण है-उसे आनंद का वातावरण मिलता है और आनन्द उसके भीतर आन्दोलित होने लगता है।

इब्राहिम खवास एक संत थे। एक बार मार्ग से जा रहे थे। जाते-जाते दोपहरी हो गई, विश्राम के लिए बैठे, संध्या हो गई थी, शिष्य भी साथ में था। उन्होंने कहा कि संध्या वंदन, पूजन कर लें, फिर आगे बढ़ेंगे। और वे उपासना-आराध्ना में लीन हो गये। वे एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। शिष्य ने देखा-एक सिंह उसी दिशा में अपनी मस्त चाल से चला आ रहा था। शिष्य घबरा रहा था, उसने गुरु से भी कहा कि सिंह आ रहा है, पर उन पर तो कोई असर नहीं हुआ। शिष्य ने सोचा-मैं क्यों व्यर्थ में जान जोखिम में डालूँ? वह वृक्ष पर चढ़ गया। सिंह आया। महात्मा ध्यान में थे, सिंह ने सूंघा, इधर-उधर दृष्टि का प्रक्षेप किया और एक-दो क्षण रुक कर वापस चला गया। शिष्य ने देखा-अब सिंह तो काफी दूर जा चुका है, अतः वह नीचे उतर आया। महात्मा ध्यान से उपरत हुए। शिष्य ने बताया-‘गुरुदेव सिंह आया था।’ ‘आया होगा।’ ‘उसने आपको सूंघा।’ ‘सूंघा होगा।’ ‘अच्छा, चलो आगे चलो।’ कुछ दूर ही चले होंगे कि एक मच्छर ने महात्मा को काटा, जलन होने लगी, हाथ में मच्छर ने काटा था। महात्मा उस स्थान को मसलने लगे, ओफ ये मच्छर कैसा था? भयंकर जलन और पीड़ा हो रही है। आगे बढ़ने में भी उन्हें तकलीफ महसूस होने लगी। शिष्य विस्मित हुआ-‘अरे, यह क्या! सिंह आया तब तो गुरुदेव आप बैठे रहे, हिले नहीं और एक मच्छर ने काट लिया तो विचलित हो गये? आप ऊँचे-नीचे हो रहे हैं? मैं यह क्या देख रहा हूँ?’ महात्मा ने कहा-‘उस समय मैं साध्ना में था अतः सिंह के आने पर भी अविचल रहा और अभी मच्छर के काटने से विचलित हुआ इसका कारण है जिसे तुम समझ नहीं पाए। वस्तुतः मैं तो तुच्छ व्यक्ति हूँ पर जिस समय उपासना में था उस समय खुदा मेरे साथ था इसलिए मुझे शेर से भी भय नहीं लगा। पर इस समय तुम जैसे कायर के साथ हूँ इसलिए मैं विचलित हो गया।’ तब समझें कि जिस समय अपने मन में हम गुरु का, परमात्मा का निवास करा लेंगे, हर सफलता हमारे कदमों में होगी। भक्ति के पद की इन पर्कितयों में भी कहा है-

प्रभु मन मंदिर में आओ।
म्हारो जीवन सफल बनाओ जी॥प्रभु.....

पर प्रभु कैसे आयें? उसके लिए हमारे पास स्थान भी है या नहीं? कथा सुनी होगी—सेठ सुदर्शन को जब राजा के सन्मुख लाया गया तब राजा ने कहा—‘बोल दो अभया के महल में किस प्रकार आये?’ तब क्या उन्होंने बोला कुछ? क्या कर रहे थे वे? उन्होंने पौष्टि किया हुआ था। हम भी करते हैं पौष्टि, पर क्या चित्तवृत्ति में गुरु को या परमात्मा को बैठाते हैं? भाई कहते हैं—संकट भी आया था पर गुरु कृपा से टल गया। ऐसा कैसे हो गया? कहाँ से पधार गए वहाँ गुरुदेव?—‘भय बिन होत न प्रीति’, ‘दुःख में सुमिरण सब करे सुख में करो न कोया’ दुःख में भगवान् याद आते हैं, दुःख गया, भगवान् भी गये। दुःख से घिरता है तो गहराई से गुरु को, प्रभु को मन में प्रतिष्ठित कर लेता है तो दुःख ऊपर से निकल जाता है। पर यदि दुःख में अधीर हो गया तो उसके साथ भगवान् भी क्या सहयोग करेंगे? गुरुदेव के माध्यम से ऊर्जा मिलती है, उसका ऊर्ध्वारोहण होता है। वह सारी ऊर्जा ज्ञान केन्द्र में समाविष्ट हो जाती है। उस समय व्यक्ति के भीतर मूर्च्छा-भव, आसक्ति नहीं रहती, पुद्गलों से लगाव नहीं रहता, विमल भावों का संचार हो जाता है। शास्त्रों में कहा गया है—जो प्रमादी साधु है उसको कदाचित् देव अपहरण कर अन्य क्षेत्र में भी पहुँचा सकता है पर अप्रमत्त साधु का अपहरण नहीं कर सकता। इसका क्या कारण है? अप्रमत्त साधु की आत्मा परमात्मा में एकाकार भाव से स्थापित हो जाती है। गुरु के साथ, प्रभु के साथ तादात्म्य भाव होने पर संकट नहीं आ सकता। संकट आये भी तो व्यक्ति अविचल रहेगा। तीर्थकरों के जीवन प्रसंग से ही देखिए। भगवान् महावीर पर, भगवान् पार्श्वनाथ पर कैसे—कैसे परीषह, उपसर्ग आये। गजसुकुमाल के सिर पर जलते अंगारे रखे गये पर वे सभी महापुरुष अविचलित रहे क्योंकि उन्होंने तन्मय योग, तादात्म्य भाव स्थापित कर लिया था। अतः कोई भी शक्ति उन्हें विचलित नहीं कर सकी। चित्त-वृत्तियों का संशोधन नहीं है तभी तक मन में तरंगें उठेंगी, आसक्ति का उद्भव होगा। आप सोचेंगे—यह तन्मय योग तो साधु के लिए ही है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। कोई भी ऐसी साधना कर सकता है फिर वह पारिवारिक संबंधों में आसक्ति से नहीं जुड़ेगा बल्कि तटस्थ

हो जायेगा। तब आत्मा में अवस्थान होगा और वह निर्विकार भाव से कर्तव्यपालन करेगा पर आत्मा पर लेप नहीं लगने देगा। यह एक अवसर होता है, ऐसा अवसर कब मिलता है? अवसर मिले तो उसका लाभ उठा लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उस प्रकार की साधना से भावित होकर परमात्मा का हृदय में निवास करा लोः ‘धरो जिनपद सेव ललना’।

कवि ने शब्दों का जो संयोजन किया है उनमें गहरा रहस्य छिपा हुआ है। प्रभु की देशना में जो विनय का स्वरूप व्यक्त हुआ है, जो स्रोत है वह कैसे प्रादुर्भाव हो? गुरु के पास रहो तो वे ऊर्जा के स्रोत उद्घाटित होंगे, ऊर्धवारीरहण होगा। इन सारे सिद्धांतों को जीवन में महत्व देंगे, उतारने का प्रयास करेंगे तो फिर अनुभव करेंगे तभी लाभ होगा नहीं तो शास्त्र भरे पड़े हैं, पुस्तकालय भरे पड़े हैं, कोई लाभ नहीं होगा। मस्तिष्क में भी यदि लाइब्रेरी भर ली तो भी काम नहीं होगा। एक आदमी कुएं में गिर गया, सिद्धान्तशास्त्री आया और अपनी बात कहने लगा। कर्मवादी कर्म की बात कहने लगा—‘तुम्हारे कर्म ही ऐसे हैं, फल-भोग कर रहे हो।’ ज्योतिषी भी आया। कहने लगा—‘कुंडली देख लूं कि तुम निकलोगे या यहीं पड़े रहोगे?’ वह व्यक्ति मन में कहने लगा—‘पहले मुझे निकाल तो लो, एक बार निकल गया तो बता दूँगा कि सिद्धांत, कर्म और कुंडली क्या कहते हैं।’ वह कह रहा है सहयोग दो तो फिर मैं सब-कुछ बता दूँगा। हम भी देख रहे हैं—सिद्धांत यह कह रहा है पर जब तक प्रेक्षिकल नहीं किया, तत्परता नहीं बनी तब तक क्या होना-जाना है। हम पानी में हैं, पानी ऊपर से निकलता जा रहा है पर पीया नहीं, तो प्यास बुझेगी नहीं। पुरुषार्थ करना होगा तभी शक्ति के स्रोत उद्घाटित होंगे। आचार्य भगवन् के सानिध्य का लाभ लें तथा उनके सामीप्य से ऊर्जा को सक्रिय करें। यह सामीप्य तभी लाभदायी होगा जब हमारा चित्त गुरुमय बन जाये।

रामायण का प्रसंग है। राम सीता के विरह में बार-बार सीता-सीता की रट लगाये हुए थे। लक्ष्मण ने कहा—‘आप लगातार उन्हीं के ध्यान में डूबे रहे तो फिर आप वैसे ही, अर्थात् सीता, बन जायेंगे।’ राम ने कहा—‘कोई बात नहीं, मैं सीता बन जाऊँगा, तो सीता भी तो राम

में तन्मय होंगी, वे राम बन जायेंगी।' अर्थात् व्यक्ति का परिवर्तन भले हो जाये पर वे रहेंगे तो सही। प्रेक्षिकल करो, अनुभूत होगा। आजकल व्यक्ति पर्स में नोटों के साथ एक तस्वीर भी रख लेता है और कहता है—सुबह—सुबह देख लेता हूँ। आपकी चित्त-वृत्ति में यदि हैं तो फिर आपको बाह्य अवलम्बन नहीं लेना पड़ेगा और जहाँ बैठेंगे वहीं गुरु का सामीप्य मिल जायेगा। गुरु को हृदय में बिठा लो तो परमात्मा भी बैठे जायेंगे। गुरु तो परमात्मा तक पहुँचने का माध्यम है।

आत्मा भले ही स्खलित होकर कर्मों से आवेष्टित हो गई है पर यदि शक्ति का ऊर्ध्वारोहण हो जाये तो, पाप कर्मों से मुक्त हो सकती है। सिद्धान्त की यह बात व्यवहार में ला कर देखें तो स्वतः ही विश्वास हो जायेगा। संतों के आदर्श इसे प्रमाणित करते हैं। गुरु के सानिध्य का लाभ मिले तो बहुत अच्छी बात है अन्यथा तन्मय योग का सहारा लिया जा सकता है। व्यक्ति और आत्मा के कल्याण का इससे अच्छा अन्य कोई मार्ग नहीं है।

भाद्रपद शुक्ला 13

25-9-96